सुलभ-साहित्य-माला

भट्ट-निबन्धावली

[पहला भाग]

स्वर्गीय पण्डित बालकृष्णजी भट्ट के श्रेष्ठ और सुन्दर
निबन्धों का संग्रह

सम्पादक

देवीदत्त शुक्ल

धनञ्जय भट्ट 'सरल'

१८८६ शकाब्द

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

प्रकाशक
गोपालचन्द्र सिंह
सचिव, प्रथम शासन-निकाय
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सातवाँ संस्करण ११००
मूल्य : २.०० पै०

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के बड़ौदा अधिवेशन के अवसर पर स्वर्गीय बड़ौदा नरेश, महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने अधिवेशन में उपस्थित होकर सम्मेलन को पाँच हज़ार रुपए दान दिये थे। उसी निधि से सम्मेलन ने 'सुलभ साहित्य माला' का संचालन आरंभ किया। इसी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत आधुनिक हिन्दी-साहित्य के महान् उन्नायक स्व० पं० बालकृष्णजी भट्ट के छत्तीस निबन्धों को 'भट्ट-निबन्धावली' (प्रथम भाग) के नाम से प्रकाशित किया गया, जिसका यह सातवाँ संस्करण है।

भट्टजी अपने युग के प्रतिनिधि गद्य-निर्माता थे। उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं का संचालन-सम्पादन कर हिन्दी के उन्नयन एवं विकास के लिए संस्थाएँ स्थापित कर और विविध विषयों पर निबन्ध लिख कर हिन्दी के निर्माण में जो योगदान दिया है, वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास में गौरवास्पद और प्रेरक है।

प्रस्तुत संग्रह के निबन्ध जीवन के हर पहलू का संस्पर्श करते हैं। इन सरस, गम्भीर और साहित्यिक सौन्दर्य से भरपूर निबन्धों की लोकप्रियता और उपादेयता सर्वतोभाव से प्रमाणित है। आशा है, पिछले संस्करणों की भाँति इस संस्करण का भी स्वागत होगा।

गोपालचन्द्र सिंह
सचिव

निवेदन

पण्डित बालकृष्ण भट्ट हिन्दी के स्वाभिमानी लेखक थे। उन्हें स्वदेश और स्व-संस्कृति का अत्यधिक प्रेम था। उनके 'हिन्दी-प्रदीप' का एक-एक पृष्ठ नहीं, एक-एक शब्द हमारे इस कथन का प्रमाण है। हिन्दी-भाषी नवयुवकों को अपने इस महारथी की रचनाओं को पढ़कर अपनी ज्ञान-वृद्धि करनी चाहिए।

भट्टजी की रचनाएँ पढ़ने का सौभाग्य मुझे उतना अधिक पहले नहीं मिला था। भला हो पण्डित धनञ्जय भट्ट का कि मुझे उन्होंने उनके पढ़ने का अवसर दे दिया और मेरी आँखें खुल गयीं। इसमें सन्देह नहीं, भट्टजी हिन्दी के लेखक ही नहीं, वे उसके सच्चे निर्माता थे।

इस 'निबन्धावली' के तैयार करने में धनञ्जयजी ने काफी अधिक परिश्रम किया है। वे भट्टजी के पौत्र हैं और उनके पास 'हिन्दी-प्रदीप' की पूरी की पूरी फाइल है ; परन्तु मुख्य बात तो यह है कि उन्होंने उसका अध्ययन भी किया है। इसी से 'भट्ट-निबन्धावली' इस सुन्दर रूप में तैयार हो सकी है। मैंने तो केवल इसका प्रूफ भर पढ़ा है, या फिर किसी-किसी निबन्ध का अंश निकाल दिया है, तो कहीं-कहीं छापे की भूल समझ कर उसे सुधार देने की ढिठाई की है ; परन्तु यह अपराध भी मैंने बहुत सँभल कर इसलिए किया है कि भट्टजी की 'मौलिकता' अक्षुण्ण रहे—उनकी वस्तु ज्यों की त्यों रहे।

इन निबन्धों को पढ़कर हिन्दी के पाठक जान सकेंगे, भट्टजी कितने ऊँचे पाये के सुलेखक थे और आज हिन्दी के इस अभ्युदय-काल में भी वे उनसे कितना सीख सकते हैं। हमें विश्वास है, इस निबन्धावली का हिन्दी के साहित्यिक इसके अनुरूप ही आदर करेंगे।

इण्डियन प्रेस, प्रयाग

१६ दिसंबर, १९४१

—देवीदत्त शुक्ल

परिचय

इस 'भट्ट-निबन्धावली' में स्वर्गीय पण्डित बालकृष्ण भट्ट के चुने हुए निबन्धों का संग्रह किया गया है; अतएव यह आवश्यक है कि भट्टजी का यहाँ कुछ परिचय दे दिया जाय।

भट्टजी आधुनिक हिन्दी के जन्मदाताओं में हैं। ये भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के समकालीन उन इने-गिने साहित्यकारों में थे, जिन्होंने हिन्दी की सेवा में अपना सब कुछ समर्पित कर दिया था। भट्टजी अपने समय के संस्कृत के बहुत बड़े विद्वान् थे। संस्कृत-साहित्य, व्याकरण, ज्योतिष, कर्मकाण्ड इत्यादि सभी विषयों के पूर्ण पण्डित थे। वेदान्त, सांख्य, पुराण, दर्शन इत्यादि में भी उनकी अद्भुत गति थी। संस्कृत के ऐसे महान् पण्डित होते हुए भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के वे अनन्य उपासक थे।

भट्टजी हिन्दी में बचपन से ही लिखने लगे थे। स्कूल में हिन्दी में वाद-विवाद और निबन्ध-रचना में सदैव भाग लेते और प्रथम रहते थे। कदाचित् सन् १८७२ ई० के लगभग 'कलिराज की सभा' शीर्षक इनका पहला लेख भारतेन्दुजी की 'कवि-वचन-सुधा' में छपा था। इसके उपरान्त 'रेल का विकट खेल', 'स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी' इत्यादि उनके कई लेख 'कवि-वचन-सुधा' में निकले। उन सभी लेखों की प्रशंसा हुई। इसके बाद उनके लेख 'काशी-पत्रिका', 'बिहार-बन्धु' आदि में भी निकलने लगे।

भारतेन्दुजी भट्टजी की बहुत प्रशंसा किया करते थे और जब कभी प्रयाग आते, उनसे बड़े प्रेम से मिलते थे। भारतेन्दुजी प्रायः कहा करते थे, 'हमारे बाद हिन्दी में भट्टजी की ही लेखनी चमकेगी' और इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतेन्दुजी के बाद हिन्दी के सुलेखकों में भट्टजी का पद सर्वोच्च था।

सन् १८७७ ई० में प्रयाग में कुछ हिन्दी-प्रेमियों और कालेज के विद्या-

थियों ने हिन्दी की उन्नति के लिए 'हिन्दी-प्रवर्द्धिनी' नाम की एक सभा स्थापित की। सभा के कार्य-कर्ताओं में हिन्दी की उन्नति और प्रचार के लिए बड़ा उत्साह था ; अतएव यह निश्चय किया गया कि एक पत्र निकाला जाय। सभा के संचालकों में कुछ धनी भी थे। उन्होंने इस राय को पसन्द किया और पाँच-पाँच रुपये के शेयर बना कर तत्काल ही थोड़ा-सा रुपया इकट्ठा कर लिया गया और पत्र के निकालने की तैयारी हो गयी। जिस समय सभा का अधिवेशन होने वाला था, संयोगवश भारतेन्दुजी प्रयाग में उपस्थित थे। 'हिन्दी-प्रवर्द्धिनी-सभा' के कार्यकर्ताओं का हिन्दी-प्रेम देखकर वे बड़े प्रसन्न हुए और लोगों के आग्रह करने पर उस अधिवेशन का सभापति होना उन्होंने स्वीकार कर लिया। भारतेन्दुजी के आग्रह से तत्काल ही पत्र निकालना निश्चित हो गया। उन्हीं की सम्मति से भट्ट जी उसके सम्पादक नियुक्त किये गये। पत्र का नाम 'हिन्दी-प्रदीप' रक्खा गया और उसका मोटो हुआ—

> शुभ सरस देश सनेह पूरित प्रगट ह्वै आनँद भरै।
> बचि दुसह दुरजन वायु सों मणिदीप सम थिर नहिं टरै।
> सूझै विवेक विचार उन्नति, कुमति सब यामें जरै।
> 'हिन्दी-प्रदीप' प्रकाशि मूरखतादि भारत तम हरै।

यह पद्य भारतेन्दुजी का ही रचा हुआ था।

'हिन्दी-प्रदीप' पत्र भाद्रपद, संवत् १९३४ तदनुसार सितम्बर, सन् १८७७ ई० से निकलना प्रारम्भ हुआ। निकलने के कुछ ही समय बाद सरकार ने 'वर्नाकुलर प्रेस ऐक्ट' पास किया, जिससे भयभीत होकर 'हिन्दी-प्रदीप' के हितैषियों ने उससे अपना सम्बन्ध भंग कर लिया; अतएव पत्र का सारा भार भट्टजी पर आ पड़ा। पत्र बराबर चलता रहा और भट्टजी के लेख 'हिन्दी-प्रदीप' में ही छपते थे।

'हिन्दी-प्रदीप' में उनके सैकड़ों-हजारों लेख छपे होंगे। संस्कृत के प्राचीन कवियों और ग्रन्थकारों के जीवन-चरित्र, श्रीमद्भागवत, वाराही-

संहिता, गीता और सप्तशती की आलोचनाएँ तथा षड्दर्शन-संग्रह का भाषानुवाद आदि सब लिखकर उन्होंने हिन्दी की अपूर्व सेवा की। कविता-सम्बन्धी अनोखी सूझ, उपयुक्त क्रिया, उपयुक्त विशेषण, अनोखी उपमा, नयी गढ़न्त, कहावतों के नये अर्थ, संस्कृत की अनूठी उक्तियाँ, संस्कृत की लोकोक्तियाँ इत्यादि कितने ही अनुपम और उपयोगी विषय लिख-लिख कर उन्होंने 'हिन्दी-प्रदीप' में छापे। नाटक, उपन्यास, प्रहसन आदि की तो उसमें भरमार रहा करती थी। प्राचीन देश, नगर, नदी, पर्वतों आदि का खोज-पूर्ण अद्भुत वर्णन भी 'हिन्दी-प्रदीप' में किया गया। 'नृपति-चरितावली' नामक लेख-माला में इस देश की छोटी-बड़ी सभी रियासतों का हाल भी पूर्णतः छपा। हँसी-दिल्लगी, चोज-मौज की बातें भी उसमें न जाने कितनी छपती रहीं। मतलब यह कि 'हिन्दी-प्रदीप' अपने समय का एक श्रेष्ठ उपयोगी मासिक-पत्र था।

इस पत्र के अधिकांश लेख स्वयं भट्टजी के लिखे होते थे; परन्तु उन्हें उस समय के अन्यान्य लब्धप्रतिष्ठ लेखकों का भी सहयोग प्राप्त था, जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० श्रीधर पाठक, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्री राधामोहन गोकुलजी, बाबू सूर्यकुमार वर्मा, पं० मधुमंगल मिश्र, पं० हरिमंगल मिश्र, पं० द्वारिकाप्रसाद चतुर्वेदी, बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी, बाबू जगमोहन वर्मा, श्री गणपति जानकीराम दुबे, पं० अनन्तराम पाण्डेय, कविवर माधव शुक्ल इत्यादि।

भट्टजी के 'हिन्दी-प्रदीप' में प्रकाशित लेखों की समालोचना भी अकसर अन्य पत्र-पत्रिकाओं में होती रहती थी। 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार', 'हिन्दी बंगवासी', 'समालोचक' इत्यादि पत्रों में कभी-कभी इनके विषय में कटूक्तियाँ लिखी गयीं। भट्टजी ने भी उनका समुचित उत्तर दिया और उनकी खूब गहरी खरी चुटकियाँ लीं।

भट्टजी अनेक कठिनाइयों और आर्थिक संकटों को सहन करते हुए ३२ वर्ष तक जिस निर्भीकता के साथ 'हिन्दी-प्रदीप' निकालते रहे, वह हिन्दी

पत्रों के इतिहास में सदा चिरस्मरणीय रहेगा। आजकल के हिन्दी सम्पादकों के लिए उस समय के हिन्दी सम्पादकों की कठिनाइयों का अनुमान कर सकना भी असम्भव है। 'हिन्दी-प्रदीप' के मुख्य ग्राहकों की संख्या कभी दो सौ से अधिक नहीं हुई। भट्टजी बराबर घाटा उठाते रहे ; पर उन्होंने पत्र बन्द नहीं होने दिया। वे कायस्थ-पाठशाला कालेज में संस्कृत के अध्यापक थे। जो कुछ वेतन मिलता था, वह पूरा का पूरा हर महीने सीधे प्रेस का बिल चुकाने में चला जाता था और कभी-कभी तो महीने के प्रारम्भ में ही अपनी सारी तनख्वाह प्रेसवालों को ही देकर छूछे हाथ घर आते थे। पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि उन्होंने ३२ वर्ष तक पत्र का सम्पादन किया, किन्तु जीवन भर में शायद ही कभी कोरे कागज पर लिखा होगा। वे अपने तमाम लेख इम्तिहान की कापियों की दूसरी ओर के कोरे अंश पर अथवा समाचार-पत्रों के रैपरों पर लिखा करते थे। उनका सारा जीवन ही लक्ष्मी और सरस्वती की परस्पर प्रतिस्पर्धा का एक जीवित उदाहरण था।

भट्टजी किसी गरीब कुटुम्ब में पैदा हुए हों, यह बात न थी। उनके पिता और भाई व्यापार करते थे। शहर में जायदाद भी थी ; पर उनको पिता और भाई के धन की स्वप्न में भी चाह न थी।

कहना न होगा कि भट्टजी किन-किन आर्थिक संकटों को उठाते हुए हिन्दी की ओर अविचल भक्ति के कारण लगातार ३२ वर्ष तक 'हिन्दी-प्रदीप' निकालते चले गये। अन्त में संवत् १९६७ अर्थात् सन् १९१० ई० में उनके एक लेख पर सरकार ने पत्र से जमानत माँगी। यही नहीं, एक सभा का सभापतित्व करने पर उन्हें अपनी नौकरी से भी हाथ धोना पड़ा। ऐसी दशा में उन्हें अपना प्रिय पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' बन्द कर देना पड़ा। इसके उपरान्त कालाकांकर से निकलने वाले 'सम्राट्' नामक साप्ताहिक पत्र का उन्होंने कुछ दिन सम्पादन किया। वे 'कर्मयोगी', 'मर्यादा', 'सम्राट्' इत्यादि तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में भी लेख लिखते रहे। फिर बाबू श्यामसुन्दरदास के बुलाने पर 'सम्राट्' को छोड़कर वे काशी नागरी-

प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-शब्दसागर' नामक बृहत् कोष के सम्पादन के लिए बनारस चले गये और उसे पूर्ण उपयोगी बनाने में उन्होंने पर्याप्त परिश्रम किया। दिसम्बर १९१३ ई० में वे प्रयाग लौट आये और यहीं श्रावण शुक्ल १३ तदनुसार १४ सितम्बर १९१४ को उनका स्वर्ग-वास हो गया।

भारतेन्दुजी के बाद हिन्दी-क्षेत्र में भट्टजी का युग कहा जाय, तो कदाचित् कोई अत्युक्ति न होगी। उनका सम्पर्क उस समय के प्रायः सभी बड़े-बड़े हिन्दी-साहित्यकारों से था। पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० राधा-चरण गोस्वामी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं० गोविन्दनारायण मिश्र, पं० शिवनाथ मिश्र, पं० श्रीधर पाठक, पं० किशोरीलाल गोस्वामी, पं० महा-वीरप्रसाद द्विवेदी, पं० मदनमोहन मालवीय, बाबू गंगाप्रसाद गुप्त इत्यादि से उनका अधिक परिचय और विशेष सम्बन्ध था।

भट्टजी तेजस्वी लेखक थे। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। उनके लेखों की भाषा विषय के अनुसार होती थी। यदि वे हास्य या ठठोल लिखते थे, तो भाषा वैसी ही हास्यमयी, रसीली और ठठोल रहती थी। यदि किसी पर कटाक्ष करते थे, तो भाषा भी व्यंग्यपूर्ण रहती थी। शृंगार रस लिखते थे, तो भाषा भी मोहक और सौन्दर्य से पूर्ण रहती थी और यदि किसी गम्भीर विषय पर लिखते थे, तो भाषा भी उत्कृष्ट और गम्भीर रहती थी। परन्तु, उनके सभी प्रकार के लेख, कहानियों जैसे मनो-रंजक होते थे। यह उनके लेखों की एक विशेषता थी।

भट्टजी के अब तक ४ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। उनकी पहली रचना 'नूतन ब्रह्मचारी' सन् १८७७ ई० के लगभग प्रकाशित हुई थी। यह एक अनुपम उपन्यास है, जो 'हिन्दी-प्रदीप' से उद्धृत कर पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। थोड़े ही समय में इस पुस्तक के कई संस्करण हुए और हिन्दी-संसार ने उसका यथोचित आदर किया। इसके कुछ समय बाद भट्टजी की दूसरी पुस्तक 'शिक्षा-दान' 'हिन्दी-प्रदीप' से उद्धृत कर प्रकाशित हुई। यह एक प्रसहन है ; इसका भी वही मान हुआ और पुस्तक हाथों-

हाथ बिक गयी। तीसरी पुस्तक 'सौ अजान और एक सुजान' नामक एक प्रबन्ध 'हिन्दी-प्रदीप' से लेकर प्रकाशित हुई। यह पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा में पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत थी। इसके बाद बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी ने भी इसे अपने यहाँ की एडमिशन परीक्षा में कोर्स-बुक नियत किया। फिर यू० पी० की टेक्स्ट-बुक कमेटी ने उसे एंग्लो वर्नाक्युलर स्कूलों में आठवें दरजे के लिए सप्लीमेण्टरी रीडर स्वीकार किया। भट्टजी की चौथी पुस्तक 'साहित्य-सुमन' नाम से प्रकाशित हुई। यह भट्टजी के 'हिन्दी-प्रदीप' में लिखे गए चुटीले, रसीले २५ लेखों का सुन्दर संग्रह है। इसके भी अब तक कई संस्करण हो चुके हैं और यह भी शुरू से ही सम्मेलन की परीक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक रखी गई है। यू० पी० गवर्नमेण्ट की टेक्स्ट-बुक कमेटी ने इसे भी स्वीकार किया और हिन्दी-कोविद की परीक्षा में यह पाठ्य पुस्तक नियत हुई।

अब यह पाँचवीं पुस्तक 'भट्ट-निबन्धावली' के नाम से हिन्दी-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित की जा रही है। इसमें भट्टजी के ३२ भावात्मक निबन्ध संग्रह किये गये हैं। ये सभी लेख 'हिन्दी-प्रदीप' से लिये गये हैं। प्रत्येक लेख के नीचे उसकी रचना का समय भी दे दिया गया है।

भट्टजी की जो अब तक चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, हिन्दी-संसार में उनका यथोचित सम्मान हुआ है। वे जितनी लोकप्रिय सिद्ध हुईं और उनके जितने अधिक संस्करण हुए उतने शायद बहुत कम दूसरी पुस्तकों के हुए होंगे। आशा है, हिन्दी-संसार इस नूतन संग्रह का भी उसी प्रकार स्वागत करेगा।

अहियापुर, इलाहाबाद —धनञ्जय भट्ट 'सरल'

१६ दिसम्बर, १९४७

निबन्ध-सूची

भट्ट-निबन्धावली

परम्परा

परम्परा, गतानुगतिक, भेड़ियाधसान आदि कई एक मुहाविरे इसके सम्बन्ध में प्रयोग किये जाते हैं। अब सोचना चाहिए यह परम्परा है क्या बला? यह किसी श्रुति का एक टुकड़ा है? आप्तवाक्य है? आर्षक्रम है? धर्मशास्त्र या स्मृतिकारों की स्मृति का सिद्धान्त है? नहीं यह यावत् श्रुति-स्मृति, धर्मशास्त्र, मन्वत्रिविष्णुहारीत आदि अठारहों स्मृतिकारों के दिमाग की चटनी या एसेन्स है। केवल इतना ही नहीं, वरन् 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' का निचोड़ है। 'यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं' महावाक्य के चरितार्थ होने की प्रणाली है, जिसकी क्रम से वंशपरम्परागत अनुवृत्ति के आगे महामुनि पाणिनि के सूत्रों की अनुवृत्ति झक मारती है, जिसके उद्दण्ड शासन के आगे कड़े-से-कड़े सरकारी कानून, जो नित्य बदला करते हैं, ठहरने की हिम्मत नहीं कर सकते।

इस परम्परा की अनुवृत्ति को जैसा हमने अपनी लड़काई में देखा, आज ६० वर्ष के उपरान्त भी वैसा ही पाते हैं, जब मात्र भी किसी तरह का हेर-फेर उसमें न हुआ। देश की स्थिति में कितनी उलट-पुलट हो गई, कितने घराने राव से रंक और रंक से राव हो गये, किन्तु इस परम्परा के स्थायित्व में जरा फर्क न आया और कब से इसका प्रादुर्भाव है, इसका पता न लगा। हम क्या, हमारे प्रपितामह के प्रपितामह की शक्ति के बाहर है। हिन्दुस्तान ऐसे गिरे देश का तो कहना ही क्या है! कौन-सी ऐसी स्वर्ग-सदृश भूमि है, कौन ऐसी सभ्यातिसभ्य जाति है, जहाँ इस परम्परा पिशाची की प्रतिष्ठा और गौरव नहीं है, बड़े-बड़े नामी देश-हितैषी, संशोधक और रिफार्मर सिर धुना किये, इसके पीछे पड मर गये, खप गये पर इस

परम्परा के हटाने में कुछ असर न पहुँचा सके। लेक्चरारों का लेक्चर परम्परा के अनुकूल हुआ सर्वथा शिरोधार्य और माननीय है। लेक्चर देनेवाले ने जरा भी प्रतिकूल कहा कि नास्तिक, विधर्मी, पापिष्ठ, भ्रम में पड़ा, भटका हुआ आदि बौछारों की समाचार-पत्र वाले झड़ी बाँध देते हैं। उस बेचारे का फिर कहीं ठिकाना नहीं लगता। देश में अबतक क्या हुआ, आगे और क्या होगा, पढ़े-लिखों के मस्तिष्क में न जानिये क्या-क्या खिचड़ियाँ पक रही हैं। तबदील के एकमात्र भक्त ये लोग जोश में भरे सब तरह की बातें सोचा करते हैं, किन्तु परम्परा के सामने एक भी नहीं चलती। इसी से कोई-कोई चतुर सयाने लेक्चरबाज नई-से-नई ईजाद या कोई नई तबदील को भी परम्परा में प्राप्त सिद्ध कर समाज में सर्वमान्य हो जाते हैं।

हम लोग बाल्य-विवाह के हटाने को कितना ही टाँय-टाँय किया करते हैं, अनेक इसके दोष दिखाते हैं, किन्तु परम्परा के क्रम के विरुद्ध है, इसलिए केवल अरण्य-रोदन-सा होता है। कोई-कोई नवयुवक, जिन्हें विधवा से ब्याह करने का खब्त पैदा हो गया, अपने मन की कर गुजरते हैं ; पर पीछे बिरादरी से बाहर और समाज से निष्कासित हो किसी काम के नहीं रह जाते। एक जातिवालों का सहभोजन बहुधा लोग चाहते हैं, यह इतना शास्त्र-विरुद्ध भी नहीं है ; किन्तु परम्परा से ऐसा नहीं होता आया। किसी को हिम्मत या साहस नहीं होता कि इस बात में अगुआ बने। ब्याह-शादी में गाली गाने की कुप्रथा सब लोग नापसन्द करते हैं, गमी में महीनों और बरसों तक सियापा किसी को नहीं रुचता ; पर परम्परा से होता चला आया, हटाये नहीं हटता, जिसके रोकने को सुशिक्षित नौजवान कितनी ही कूद-फाँद मचाते हैं, किन्तु घर की पुरानी बुढ़िया ने जहाँ एक बार डाँट के 'दूर-मुये' कह दिया, तहाँ सब जोश उतर गया—इत्यादि कितनी कुरीतें परम्परा की आड़ में ऐसी बद्धमूल हो गई हैं कि हटाये नहीं हटतीं, तकरीर और मस्तिष्क का दखल वहाँ होने ही नहीं पाता। अस्तु।

अन्त में फिर भी हम इस परम्परा को धन्यवाद देंगे, सो इसलिए कि

नई तालीम के प्रवाह के झोंक में देश का देश इसी ताक में लगा हुआ है कि किस तरह हम जाति-पाँति के झगड़ों से निकल भागें। अपने मत की जो अभी छिप के करते हैं जाहिरा करने लगें और आजाद हो खुल खेलें। इस दशा में बचा-खुचा हमारा हिन्दूपन, चाहे इसे बुरा कहो या भला, इसी परम्परा के सहारे पर टिक रहा है। जिन वैदिक ऋषियों का यह चलाया है, उनमें शुद्ध भाव रहा, तो यह वृक्ष पुराना पड़ने पर भी एक बार फिर भी हरा-भरा हो लहलहा उठेगा ; पर ऐसा कब होगा यह कौन जान सकता है।

कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

नवम्बर, १९०४

कालचक्र का चक्कर

सच है "अपना चेता होत नहिं प्रभु चेता तत्काल"।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

बराबर देख रहे हैं,—आज यह गये, कल उनकी बारी आयी, परसों उन्हें चिता पर सुला आये ; पर जो बचे हुए हैं, उन्होंने यही मन में ठान रखा है कि हम अजर, अमर और अविनाशी हैं, सदा स्थायी रहेंगे। यह तो कभी उनके कलुषित चंचल चित्त में धँसता ही नहीं कि एक दिन आवेगा कि हम भी शव-रूप में ऐसी ही चिता पर सुलाये जायेंगे। न जानिये हजार लाख या करोड़ वर्ष की नेह गाड़े हुए निश्चिन्त बैठे हैं। निस्सन्देह इससे बढ़कर अचरज की बात और क्या होगी? हमारे मन में आता है कि ऐसों ही के लिए कई वर्ष से प्लेग मनुष्य के जीवन को पानी का बुल्ला-सा करता मानो चेतावनी दे रहा है ; पर काहे को कोई चेतै और क्यों चेतै? किसी बात की कमी नहीं, रुपयों से खचाखच खजाना भरा है, २४ घण्टे के दिन-रात में ३६ भाँति की उमंग और हौसले मन में उठते रहते हैं। सच है—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुंचत्याशावायुः॥

चार भाइयों के बीच में एक लड़का है। बाप, मा, चाचा, ताऊ, बाबा, नाना बड़े लोग सब दिन-रात मुँह जोहते रहते हैं और अपने प्रिय पुत्र की सुहावनी सूरत पर बार-बार पानी पी रहे हैं। अँगुलियों दिन गिनते बीतता है कि कब वह समय आवे कि हम अपने ललन का ब्याह करैं। बहू घर में आवै, चन्द्रसेनी हार मुँह दिखाई में भेंटकर उसका चाँद-सा मखडा देख

अपना जी जुड़ावें। हमारे सब मनोरथ सफल हों। बड़ी-से-बड़ी महफिल साज, सात भाँति की मिठाई परसें। चार भाई बिरादरी का जूठन पड़े, हमारा घर पवित्र हो। वर्षों के पहिले से नगर की प्रसिद्ध वारवनिताओं को बयाना दे दिया गया, ब्याह की तैयारियाँ हो रही थीं कि अचानक ललन को ज्वर आया, दवा-दारू झार-फूँक टोना-टनमन में सैकड़ों रुपये फूँक डाला। ज़रा भी फुरसत न हुई, गिलटी प्रगट हो आई, दो ही तीन दिन में ललनजी जहाँ के थे वहीं चल बसे।

बड़ी-से-बड़ी डिगरी हासिल किये हुए हैं; छात्र-मण्डली में जिनकी कुशाग्र बुद्धि की शोहरत है, बड़ी-बड़ी उमंगें मन में भरी हुई हैं कि कंपीटीशन में हम विलाइतवालों को अपने नीचे करेंगे ; मातृभूमि के लिए हम ऐसी कोई बात कर गुजरें, जिसमें भारत के सत्पुत्र कहलावें, आहार-विहार की गड़बड़ी से एक दिन दो-चार दस्त और कै हुई ; दोस्तों ने समझा अजीर्ण है। दौड़-धूप करने लगे, इधर इनका हाल बिगड़ता ही गया, १२ घण्टे के भीतर ही समाप्त हो गये। यह किसी ने न समझा कि अंतक देव ने एक बड़ा भारी कालेज खोल रक्खा है ; सर्वविद्या पारंगत इनको वहाँ का प्रोफेसर किया चाहते हैं। यह न्याय है या अन्याय इसका विचार कभी मन में न आया ; अधम से अधम काम करने में कभी हिचक न हुई, कई लाख और करोड़ की माया जोड़ने में बराबर महा अर्थ पिशाच रह आये ; फिर भी दिन-रात सोचा करते हैं, ५० हजार फलाने असामी के बाकी हैं, एक लाख अमुक सेठ के नीचे दबा है और वह टाट पलटने पर हैं ; २५ हजार ब्याज का चिथरूमल गोधनदास से अब तक न वसूल हुआ। ऐसी ही ऐसी चिन्ता में व्यग्र एक रात को नींद न आई, अधिक शीत के कारण फालिज आ टूटा, जबान बन्द हो गई। मुँह टेढ़ा पड़ गया, सुबह होते-होते चल बसे। साथ अपने एक पाई भी न ले गये। एक-एक पैसे के लिए जेर-बार हैं, रोज का भोजन बड़ी कठिनाई से चलता है। दैव-संयोग से एक ऐसा भाग्यवान् कुल-उजागर जन्मा कि उसने कुल की प्रतिष्ठा चौगुनी कर दी ; मिट्टी छूते सोना होने लगा, बरसाती नदी की बाढ़ के समान धन-सम्पत्ति सब ओर से आ इकट्ठी

होने लगी, दौलत की बाढ़ के साथ-साथ हौसिले और उमंग भी बढ़ने लगे; संगीन पक्का मकान छोड़ दिया गया, जड़ाऊ ठोस गहने पिटने लगे, जमींदारी की भी खरीद होने लगी। बात-बात में नफासत और वजेदारी की तराश-खराश पल्ले दर्जे तक पहुँची। अकस्मात् वह पुरुष-रत्न, जिसकी बदौलत यह सब कुछ था, चल बसा। सूर्यास्त होने पर अन्धकार-सा छा गया। जिनके मिजाज कुतुबमीनार की ऊँचाई तक चढ़ गये थे, अब कौड़ी के तीन-तीन हो गये। इस तरह इस कालचक्र की अद्भुत महिमा 'झूरी भरै, भरी ढरकावै' की भाँति कुछ समझ में नहीं आती।

अब दूसरी ओर देखिए, कुछ अकिल काम नहीं करती, क्यों इस काल-चक्र का चक्कर ऐसा टेढ़ा-मेढ़ा है। युग-व्यवस्था के सम्बन्ध में पुराण-वालों की पुरानी अकिल चाहे जो मान बैठी हो, हमें तो कुछ ऐसा ही जँचता है कि यह युग-व्यवस्था भी इसी कालचक्र की विकराल गति है। जहाँ और जब इस चक्र का चक्कर अपने अनुकूल है, तहाँ और तब सतयुग है, उसका प्रतिकूल होना ही कलियुग है। भारत पर वह चक्कर नितान्त प्रतिकूल है, इसलिए यहाँ घोर कलियुग बर्त रहा है! विलायत पर अनु-कूल है, वहाँ शुद्ध सत्ययुग राज करता है, वहाँ वालों में जो बुराइयाँ हैं वे भी भलाई में शामिल कर ली गई हैं। उसी कालचक्र की प्रतिकूलता से हमारे में बची-खुची जो दो-एक भलाई थीं वह भी बुराई और पाप समझ ली गईं। कालचक्र की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण और क्या होगा कि आदि में जो यहाँ सौदागरी करने के बहाने आये, वे अब समस्त भारत के कश्मीर से कन्याकुमारी तक अखण्ड एकचक्रा पृथ्वी के राज्य के अधिकारी हो गये। वही यहाँ वाले जिनको अनादिकाल से यहाँ की भूमि से मातृवात्सल्य रहा और जिनके नस-नस में यहाँ के जलवायु का असर चुभा हुआ है, वे कालचक्र की प्रतिकूलता से निकाल बाहर कर दिये गये। बैठे-बैठे ललचाते और मुँह ताकते रह जाते हैं, जो कुछ सार पदार्थ और रस है उसका आनन्द एक तीसरा भोग रहा है; ये खूदड़ और उच्छिष्ट ही मे अपना पेट पाल लेने को परम सौभाग्य मान रहे थे, सो उसमें भी

उस चक्र की वक्र कुटिल गति ने ऐसा खलल डाल रक्खा है कि चिरकाल से दुर्भिक्ष और अवर्षण इन्हें निश्चिन्त नहीं रहने देता। इस समय कई और उपद्रवों से कुछ स्वास्थ्य था, तो प्लेग अपनी बहादुरी प्रकट कर रहा है। इससे किसी तरह गला छूटेगा, तो कोई दूसरी बला आ घेरैगी।

बड़े-बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक, योगी तथा भविष्य के जाननेवाले किसी ने इनका भेद न पाया कि क्यों ऐसा होता है। कोई कहते हैं—यह ईश्वर की इच्छा है; दूसरे मानते हैं—नहीं, संस्कार का, पूर्व-संचित का यह परिणाम हैं "जो जस करै सो तस फल चाखा"। और लोग सिद्ध करते हैं, यह सितारों की गरदिश है। संशोधक और रिफार्मर जुदा ही तान भर रहे हैं कि हम अपने यहाँ प्रचलित कुरीतों को उठाय समाज का मशोधन क्यों न कर डालें, जिसमें हमारे में कौमियत और एकता आवे, मुलकी जोश पैदा हो, कालचक्र की जो वक्रगति है, ऋजु गति हो जाय। कोई कहते हैं—यह बाल-विधवाओं की आह है; दूसरे कहते हैं—यह बाल्य-विवाह का सब दोप है, इत्यादि-इत्यादि। हमारे धूर्त शिरोमणि इसी पर जोर दे रहे हैं कि ब्राह्मणों का मान और हिन्दू-धर्म पर विश्वास उठता जाता है, उसी का यह फल हैं; कोई-कोई दबी जबान हिम्मत बाँध कही तो डालते हैं कि यह सब राजा के पाप या पुण्य का परिणाम है। जो हो वास्तव में यह क्या गोरख-धन्धा है, कुछ नहीं खुलता।

सच पूछो तो आदमी की शैतानी अकिल एक हारी है, तो इसी बात में कि वह कुछ हल नहीं कर सकती कि आज क्या है, कल क्या होगा और इसी को इस संसार का बड़ा इंजीनियर अपने हाथ में रक्खे हुए है। यह इस कालचक्र के चक्कर ही का प्रभाव है कि रोम, इन्द्रप्रस्थ, अयोध्या, पाटलिपुत्र, कन्नौज आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ, जो किसी समय आदमियों का जंगल थीं, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई योजन और कोसों के हिसाब से थी और जहाँ की मनुष्य-संख्या ४० लाख २० लाख १० लाख की गिनती की थी, वह इस समय बहुधा तो उजाड़ घुग्घुओं के घोसलों के लिए उपयुक्त हैं; कोई-कोई नाम मात्र को अब तक विद्यमान हैं। लन्दन, पेरिस, कल-

कत्ता, बम्बई जो एक समय बहुधा तो उजाड़ जंगल तथा जलमग्न अनूप थे, वहाँ अब आकाश से बात करते हुए गगनस्पृक् प्रासाद स्वर्णमण्डित मन्दिर खड़े हुए हैं। जहाँ चंचला लक्ष्मी अपनी चंचलता से मुँह मोड़ चिर-स्थायिनी हो समुद्र की तरंग सी हिलोरें मार रही हैं, इत्यादि। इस काल-चक्र की महिमा का पार कौन पा सकता है, तब हमारी क्षुद्र लेखनी किस बूते पर इस चक्कर में पड़ने का अधिक साहस करे? पढ़नेवालों के चित्त विनोदार्थ इतना ही सही।

जनवरी, १९०३

संसार कभी एक सा न रहा

सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा दूसरे-दूसरे ग्रह और उनके उपग्रह आदि यावत् भगण सब अपनी-अपनी कक्षा में चलते हुए कभी एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहते। तब इस दृश्य-जगत् को संसार 'चलने वाला' कहना उचित ही है। स्थिर पदार्थ चाहे चिरकाल तक एक रूप में रहे भी; पर जो चलने वाले हैं, वे एक ही प्रकार के और एक ही रूप में सदा क्योंकर रह सकते हैं। जो कल था, सो आज नहीं है, जो आज है सो कल न रहेगा। छिन-छिन में नये-नये गुल खिलते हैं। लड़के से जवान हो गये, जवान से बूढ़े हो जाते हैं। वह प्यारी-प्यारी मुग्धमुखच्छवि, जिसे देखते ही आँख लुभा उठती है, जी जुड़ाता है, जिसके धूलि-धूसरित स्वभाव सुन्दर सुहावने कोमल अंग-प्रत्यंग के दरस-परस को भाग्यहीन जन तरसते हैं —

चिरात्सुतस्पर्श रसज्ञतां ययौ।

उसका सब रंग-ढंग जवानी के आते ही अथवा यों कहिये पौगण्ड बीत जाने पर किशोर-अवस्था के पहुँचते ही कुछ और का और हो गया। बाल्य-अवस्था की मुग्धमाधुरी अकृत्रिम सरलता और सिधाई में सयानापन और कुटिलाई जगह करने लगी। स्वाभाविक सौन्दर्य में बनावटी सलोनापन-सा समाया, नई-नई सजावट की ओर जी झुक पड़ा। एक पैसे की शीरीनी और छदाम के मिट्टी के खिलौने में जहाँ ब्रह्मानन्द का सुख मिलता था, वहाँ अब दो-चार आनों की गिनती ही क्या है? रुपयों की बात-चीत आ लगी। लड़काई का उदार समभाव और सन्तोष कहीं एक बात में भी न रह सका। तृष्णा, लालच, हिर्स, दोस्ती या दुश्मनी का बाजार गरम हुआ, आशिकी और माशूकी का चसका डूबा, विषम भाव और मन की कुटिलाई ज्ञान-शक्ति बढ़ने के साथ ही साथ नित-नित

अधिक होती गई। हौले-हौले पूरी तरुनाई तक पहुँच नीचे को खिसकने लगे, गदहपचीसी को नाँघ चेहलसाली को भी डाँक अधेड़ की गिनती में आ गये। बस अब खिसके सो खिसके, बाल चाँदी होने लगे, सौ-सौ तरह पर खिजाब कर पुराने ठिकरे पर नई कलई की भाँति पहले का-सा कुद-रती रंग फिर लाया चाहते हैं, किचकिचाते हैं, बार-बार सोचते हैं कि नई जवानी और चढ़ती उमर का जोश तरोताजा हो जाता। बालों ही के सुफैद हो जाने के गम में डूब बैठे थे कि दाँत जो हीरे की दमक को भी दबाते हुए मोतियों की लड़ियों की तरह सोह रहे थे, कगारे पर के रूख की भाँति एक-एक कर गिरने लगे। मुख के भीतर थोड़ी-थोड़ी दूर पर मानों विन्ध्य-पर्वत का एक-एक खड्ढा-सा खड़ा कर दिया गया। उधर नेत्र ने भी जवाब दिया, चश्मे की हाजत हुई, दिमाग कमजोर पड़ गया। हाफिजा दुरुस्त न रहा। जो बात पहले एक बार के कहने या सुनने से अकिल की सराय में मानों सदा के लिए टिक-सी गई थी, उसे रूठे पाहुने की भाँति बार-बार बुलाते हैं, घोखते रहते हैं, पर सिवाय उचट जाने के बुद्धि में किसी तरह ठहरती ही नहीं।

प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे।

इतने में कान भी मान लाये, मुँह पर सिकुड़न आने लगी, हाड़ों को छोड़-छोड़ कर माँस और चिमड़ी ठौर-ठौर इकट्ठी हो शरीर के समथर मैदान में जगह-जगह टीले से खड़े हो गये।

श्रुतिर्नष्टा स्मृतिर्दूरं पदात्प्रचलिता द्विजाः वार्द्धक्यं किमनुप्राप्तम् ?

अस्तु, यों ही होते-होते साठ सत्तर अस्सी पहुँचे, दिन करीब आ गये, मुँह बाये रह गये।

"राम नाम सत्य है दो चार नित्य है।" **भतानि कालः पचतीति**

वार्ता। अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरं।
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।

संसार कभी एक-सा न रहा—हमारा यह सिद्धान्त अब आया मन में। खैर, अब आगे बढ़िये। पञ्चभूतात्मक पञ्चप्राणवाले जीव जो इस चल और असार संसार में एक से न रहे, तो कौन अचरज है! जब अटल और सदा के लिए स्थिर बड़े-बड़े पहाड़ सैकड़ों कोस के मैदान और जंगल भी काल पाय और के और हो जाते हैं।

पुरा यत्रस्रोतः पुलिनमभवत्तत्र सरिताम्।
विपर्यासंजातो घनविरल भावः क्षितिरुहाम्।।

उत्तर राम-चरित्र में भवभूति कवि लिखते हैं कि दण्डक वन में जो पहिले सोते रहे, वे नदियों के प्रवाह के कारण अब पुलिन बन गये। घने और विरले जंगलों में उलट-पुलट हो गई। जहाँ घना जंगल था वहाँ अब कहीं-कहीं दो-एक पेड़ रह गये और जो बिल्कुल पठारी मैदान था, वह घने जंगल में बदल गया इत्यादि।

तो निश्चय हुआ कि परिवर्तन जिसके हमारे पुराने बुड्ढे अत्यन्त विरुद्ध हैं इस अस्थिर जगत् का एक मुख्य धर्म या गुण है। वही नये लोग इस परिवर्तन पर अनमन न होकर चिढ़ते नहीं; वरन् इसे तरक्की की एक सीढ़ी मानते हैं। हमारे अभाग से भारत में परिवर्तन को यहाँ तक लोग बुरा समझते हैं कि दिन-दिन अत्यन्त गिरी दशा में आकर भी परिवर्तन की ओर नहीं मन दिया चाहते—यह हमारी परिवर्तन-विमुखता ही का कारण है कि हजार वर्ष से विदेशियों का पदाघात सहकर भी कभी एक क्षण भर के लिए जीवनी-नाड़ी में रक्त-सञ्चालन न हुआ। जैसी इल्म की तरक्की इस उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे देश में हुई है, वैसी किसी दूसरे देश में होती, तो वह देश भूमण्डल का शिरोमणि हो जाता। परिवर्तन-विमुखता के कारण इस समय की विद्यावृद्धि दाल में नमक की भाँति मालूम होती है और जो धीमा क्रम यहाँ के लोगों में देखा जाता है, उससे

हाथ बिक गयी। तीसरी पुस्तक 'सौ अजान और एक सुजान' नामक एक प्रबन्ध 'हिन्दी-प्रदीप' से लेकर प्रकाशित हुई। यह पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा में पाठ्य पुस्तक के रूप में स्वीकृत थी। इसके बाद बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी ने भी इसे अपने यहाँ की एडमिशन परीक्षा में कोर्स-बुक नियत किया। फिर यू० पी० की टेक्स्ट-बुक कमेटी ने उसे एंग्लो वर्नाक्युलर स्कूलों में आठवें दरजे के लिए सप्लीमेण्टरी रीडर स्वीकार किया। भट्टजी की चौथी पुस्तक 'साहित्य-सुमन' नाम से प्रकाशित हुई। यह भट्टजी के 'हिन्दी-प्रदीप' में लिखे गए चुटीले, रसीले २५ लेखों का सुन्दर संग्रह है। इसके भी अब तक कई संस्करण हो चुके हैं और यह भी शुरू से ही सम्मेलन की परीक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक रखी गई है। यू० पी० गवर्नमेण्ट की टेक्स्ट-बुक कमेटी ने इसे भी स्वीकार किया और हिन्दी-कोविद की परीक्षा में यह पाठ्य पुस्तक नियत हुई।

अब यह पाँचवीं पुस्तक 'भट्ट-निबन्धावली' के नाम से हिन्दी-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित की जा रही है। इसमें भट्टजी के ३२ भावात्मक निबन्ध संग्रह किये गये हैं। ये सभी लेख 'हिन्दी-प्रदीप' से लिये गये हैं। प्रत्येक लेख के नीचे उसकी रचना का समय भी दे दिया गया है।

भट्टजी की जो अब तक चार पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, हिन्दी-संसार में उनका यथोचित सम्मान हुआ है। वे जितनी लोकप्रिय सिद्ध हुईं और उनके जितने अधिक संस्करण हुए उतने शायद बहुत कम दूसरी पुस्तकों के हुए होंगे। आशा है, हिन्दी-संसार इस नूतन संग्रह का भी उसी प्रकार स्वागत करेगा।

अहियापुर, इलाहाबाद —धनञ्जय भट्ट 'सरल'

१६ दिसम्बर, १९४७

निबन्ध-सूची

भट्ट-निबन्धावली

परम्परा

परम्परा, गतानुगतिक, भेड़ियाधसान आदि कई एक मुहाविरे इसके सम्बन्ध में प्रयोग किये जाते हैं। अब सोचना चाहिए यह परम्परा है क्या वस्तु? यह किसी श्रुति का एक टुकड़ा है? आप्तवाक्य है? आर्षक्रम है? धर्मशास्त्र या स्मृतिकारों की स्मृति का सिद्धान्त है? नहीं यह यावत् श्रुति-स्मृति, धर्मशास्त्र, मन्वत्रिविष्णुहारीत आदि अठारहों स्मृतिकारों के दिमाग की चटनी या एसेन्स है। केवल इतना ही नहीं, वरन् 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' का निचोड़ है। 'यद्यपि शुद्धं लोक विरुद्धं' महावाक्य के चरितार्थ होने की प्रणाली है, जिसकी क्रम से वंशपरम्परागत अनुवृत्ति के आगे महामुनि पाणिनि के सूत्रों की अनुवृत्ति झक मारती है, जिसके उद्दण्ड शासन के आगे कड़े-से-कड़े सरकारी कानून, जो नित्य बदला करते हैं, ठहरने की हिम्मत नहीं कर सकते।

इस परम्परा की अनुवृत्ति को जैसा हमने अपनी लड़काई में देखा, आज ६० वर्ष के उपरान्त भी वैसा ही पाते हैं, जब मात्र भी किसी तरह का हेर-फेर उसमें न हुआ। देश की स्थिति में कितनी उलट-पुलट हो गई, कितने घराने राव से रंक और रंक से राव हो गये, किन्तु इस परम्परा के स्थायित्व में जरा फर्क न आया और कब से इसका प्रादुर्भाव है, इसका पता न लगा। हम क्या, हमारे प्रपितामह के प्रपितामह की शक्ति के बाहर है। हिन्दुस्तान ऐसे गिरे देश का तो कहना ही क्या है! कौन-सी ऐसी स्वर्ग-सदृश भूमि है, कौन ऐसी सभ्यातिसभ्य जाति है, जहाँ इस परम्परा पिशाची की प्रतिष्ठा और गौरव नहीं है, बड़े-बड़े नामी देश-हितैषी, संशोधक और रिफार्मर सिर धुना किये, इसके पीछे पड़ मर गये, खप गये पर इस

परम्परा के हटाने में कुछ असर न पहुँचा सके। लेक्चरारों का लेक्चर परम्परा के अनुकूल हुआ सर्वथा शिरोधार्य और माननीय है। लेक्चर देनेवाले ने जरा भी प्रतिकूल कहा कि नास्तिक, विधर्मी, पापिष्ठ, भ्रम में पड़ा, भटका हुआ आदि बौछारों की समाचार-पत्र वाले झड़ी बाँध देते हैं। उस बेचारे का फिर कहीं ठिकाना नहीं लगता। देश में अबतक क्या हुआ, आगे और क्या होगा, पढ़े-लिखों के मस्तिष्क में न जानिये क्या-क्या खिचड़ियाँ पक रही हैं। तबदील के एकमात्र भक्त ये लोग जोश में भरे सब तरह की बातें सोचा करते हैं, किन्तु परम्परा के सामने एक भी नहीं चलती। इसी से कोई-कोई चतुर सयाने लेक्चरबाज नई-से-नई ईजाद या कोई नई तबदील को भी परम्परा में प्राप्त सिद्ध कर समाज में सर्वमान्य हो जाते हैं।

हम लोग बाल्य-विवाह के हटाने को कितना ही टाँय-टाँय किया करते हैं, अनेक इसके दोष दिखाते हैं, किन्तु परम्परा के क्रम के विरुद्ध है, इसलिए केवल अरण्य-रोदन-सा होता है। कोई-कोई नवयुवक, जिन्हें विधवा से ब्याह करने का खब्त पैदा हो गया, अपने मन की कर गुजरते हैं ; पर पीछे बिरादरी से बाहर और समाज से निष्कासित हो किसी काम के नहीं रह जाते। एक जातिवालों का सहभोजन बहुधा लोग चाहते हैं, यह इतना शास्त्र-विरुद्ध भी नहीं है ; किन्तु परम्परा से ऐसा नहीं होता आया। किसी को हिम्मत या साहस नहीं होता कि इस बात में अगुआ बने। ब्याह-शादी में गाली गाने की कुप्रथा सब लोग नापसन्द करते हैं, गमी में महीनों और बरसों तक सियापा किसी को नहीं रुचता ; पर परम्परा से होता चला आया, हटाये नहीं हटता, जिसके रोकने को सुशिक्षित नौजवान कितनी ही कूद-फाँद मचाते हैं, किन्तु घर की पुरानी बुढ़िया ने जहाँ एक बार डाँट के 'दूर-मुये' कह दिया, तहाँ सब जोश उतर गया—इत्यादि कितनी कुरीतें परम्परा की आड़ में ऐसी बद्धमूल हो गई हैं कि हटाये नहीं हटतीं, तकरीर और मस्तिष्क का दखल वहाँ होने ही नहीं पाता। अस्तु।

अन्त में फिर भी हम इस परम्परा को धन्यवाद देंगे, सो इसलिए कि

नई तालीम के प्रवाह के झोंक में देश का देश इसी ताक में लगा हुआ है कि किस तरह हम जाति-पाँति के झगड़ों से निकल भागें। अपने मत की जो अभी छिप के करते हैं जाहिरा करने लगें और आजाद हो खुल खेलैं। इस दशा में बचा-खुचा हमारा हिन्दूपन, चाहे इसे बुरा कहो या भला, इसी परम्परा के सहारे पर टिक रहा है। जिन वैदिक ऋपियों का यह चलाया है, उनमें शुद्ध भाव रहा, तो यह वृक्ष पुराना पड़ने पर भी एक बार फिर भी हरा-भरा हो लहलहा उठेगा ; पर ऐसा कब होगा यह कौन जान सकता है।

कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

नवम्बर, १९०४

कालचक्र का चक्कर

सच है "अपना चेता होत नहिं प्रभु चेता तत्काल"।

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषा जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

बराबर देख रहे हैं,—आज यह गये, कल उनकी बारी आयी, परसों उन्हें चिता पर सुला आये; पर जो बचे हुए हैं, उन्होंने यही मन में ठान रखा है कि हम अजर, अमर और अविनाशी हैं, सदा स्थायी रहेंगे। यह तो कभी उनके कलुषित चंचल चित्त में धँसता ही नहीं कि एक दिन आवेगा कि हम भी शव-रूप में ऐसी ही चिता पर सुलाये जायेंगे। न जानिये हजार लाख या करोड़ वर्ष की नेह गाड़े हुए निश्चिन्त बैठे हैं। निस्सन्देह इससे बढ़कर अचरज की बात और क्या होगी? हमारे मन में आता है कि ऐसों ही के लिए कई वर्ष से प्लेग मनुष्य के जीवन को पानी का बुल्ला-सा करता मानो चेतावनी दे रहा है; पर काहे को कोई चेतै और क्यों चेतै? किसी बात की कमी नहीं, रुपयों से खचाखच खजाना भरा है, २४ घण्टे के दिन-रात में ३६ भाँति की उमंग और हौसले मन में उठते रहते हैं। सच है—

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुंचत्याशावायुः॥

चार भाइयों के बीच में एक लड़का है। बाप, मा, चाचा, ताऊ, बाबा, नाना बड़े लोग सब दिन-रात मुँह जोहते रहते हैं और अपने प्रिय पुत्र की सुहावनी सूरत पर बार-बार पानी पी रहे हैं। अँगुलियों दिन गिनते बीतता है कि कब वह समय आवे कि हम अपने ललन का ब्याह करैं। बहू घर में आवै, चन्द्रसेनी हार मुँह दिखाई में भेंटकर उसका चाँद-सा मखडा देख

अपना जी जुड़ावें। हमारे सब मनोरथ सफल हों। बड़ी-से-बड़ी महफिल साज, सात भाँति की मिठाई परसें। चार भाई बिरादरी का जूठन पड़े, हमारा घर पवित्र हो। वर्षों के पहिले से नगर की प्रसिद्ध वारवनिताओं को बयाना दे दिया गया, ब्याह की तैयारियाँ हो रही थीं कि अचानक ललन को ज्वर आया, दवा-दारू झार-फूँक टोना-टनमन में सैकड़ों रुपये फूँक डाला। ज़रा भी फुरसत न हुई, गिलटी प्रगट हो आई, दो ही तीन दिन में ललनजी जहाँ के थे वहीं चल बसे।

बड़ी-से-बड़ी डिगरी हासिल किये हुए हैं; छात्र-मण्डली में जिनकी कुशाग्र बुद्धि की शोहरत है, बड़ी-बड़ी उमंगें मन में भरी हुई हैं कि कंपीटीशन में हम विलाइतवालों को अपने नीचे करेंगे ; मातृभूमि के लिए हम ऐसी कोई बात कर गुजरें, जिसमें भारत के सत्पुत्र कहलावें, आहार-विहार की गड़बड़ी से एक दिन दो-चार दस्त और कै हुई ; दोस्तों ने समझा अजीर्ण है। दौड़-धूप करने लगे, इधर इनका हाल बिगड़ता ही गया, १२ घण्टे के भीतर ही समाप्त हो गये। यह किसी ने न समझा कि अंतक देव ने एक बड़ा भारी कालेज खोल रक्खा है ; सर्वविद्या पारंगत इनको वहाँ का प्रोफेसर किया चाहते हैं। यह न्याय है या अन्याय इसका विचार कभी मन में न आया ; अधम से अधम काम करने में कभी हिचक न हुई, कई लाख और करोड़ की माया जोड़ने में बराबर महा अर्थ पिशाच रह आये ; फिर भी दिन-रात सोचा करते हैं, ५० हजार फलाने असामी के बाकी हैं, एक लाख अमुक सेठ के नीचे दबा है और वह टाट पलटने पर हैं ; २५ हजार ब्याज का चिथ-रूमल गोधनदास से अब तक न वसूल हुआ। ऐसी ही ऐसी चिन्ता में व्यग्र एक रात को नींद न आई, अधिक शीत के कारण फालिज आ टूटा, जबान बन्द हो गई। मुँह टेढ़ा पड़ गया, सुबह होते-होते चल बसे। साथ अपने एक पाई भी न ले गये। एक-एक पैसे के लिए जेर-बार हैं, रोज का भोजन बड़ी कठिनाई से चलता है। दैव-संयोग से एक ऐसा भाग्यवान् कुल-उजागर जन्मा कि उसने कुल की प्रतिष्ठा चौगुनी कर दी ; मिट्टी छूते सोना होने लगा, बरसाती नदी की बाढ़ के समान धन-सम्पत्ति सब ओर से आ इकट्ठी

होने लगी, दौलत की बाढ़ के साथ-साथ हौसिले और उमंग भी बढ़ने लगे; संगीन पक्का मकान छोड़ दिया गया, जड़ाऊ ठोस गहने पिटने लगे, जमींदारी की भी खरीद होने लगी। बात-बात में नफासत और वजेदारी की तराश-खराश पल्ले दर्जे तक पहुँची। अकस्मात् वह पुरुष-रत्न, जिसकी बदौलत यह सब कुछ था, चल बसा। सूर्यास्त होने पर अन्धकार-सा छा गया। जिनके मिजाज कुतुबमीनार की ऊँचाई तक चढ़ गये थे, अब कौड़ी के तीन-तीन हो गये। इस तरह इस कालचक्र की अद्भुत महिमा 'झूरी भरै, भरी ढरकावै' की भाँति कुछ समझ में नहीं आती।

अब दूसरी ओर देखिए, कुछ अकिल काम नहीं करती, क्यों इस काल-चक्र का चक्कर ऐसा टेढ़ा-मेढ़ा है। युग-व्यवस्था के सम्बन्ध में पुराण-वालों की पुरानी अकिल चाहे जो मान बैठी हो, हमें तो कुछ ऐसा ही जँचता है कि यह युग-व्यवस्था भी इसी कालचक्र की विकराल गति है। जहाँ और जब इस चक्र का चक्कर अपने अनुकूल है, तहाँ और तब सतयुग है, उसका प्रतिकूल होना ही कलियुग है। भारत पर वह चक्कर नितान्त प्रतिकूल है, इसलिए यहाँ घोर कलियुग बर्त रहा है! विलायत पर अनु-कूल है, वहाँ शुद्ध सत्ययुग राज करता है, वहाँ वालों में जो बुराइयाँ हैं वे भी भलाई में शामिल कर ली गई हैं। उसी कालचक्र की प्रतिकूलता से हमारे में बची-खुची जो दो-एक भलाई थीं वह भी बुराई और पाप समझ ली गईं। कालचक्र की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का इससे बढ़कर दूसरा उदाहरण और क्या होगा कि आदि में जो यहाँ सौदागरी करने के बहाने आये, वे अब समस्त भारत के कश्मीर से कन्याकुमारी तक अखण्ड एकचक्रा पृथ्वी के राज्य के अधिकारी हो गये। वही यहाँ वाले जिनको अनादिकाल से यहाँ की भूमि से मातृवात्सल्य रहा और जिनके नस-नस में यहाँ के जलवायु का असर चुभा हुआ है, वे कालचक्र की प्रतिकूलता से निकाल बाहर कर दिये गये। बैठे-बैठे ललचाते और मुँह ताकते रह जाते हैं, जो कुछ सार पदार्थ और रस है उसका आनन्द एक तीसरा भोग रहा है; ये खूदड़ और उच्छिष्ट ही से अपना पेट पाल लेने को परम सौभाग्य मान रहे थे, सो उसमें भी

उस चक्र की वक्र कुटिल गति ने ऐसा खलल डाल रक्खा है कि चिरकाल से दुर्भिक्ष और अवर्षण इन्हें निश्चिन्त नहीं रहने देता। इस समय कई और उपद्रवों से कुछ स्वास्थ्य था, तो प्लेग अपनी बहादुरी प्रकट कर रहा है। इससे किसी तरह गला छूटेगा, तो कोई दूसरी बला आ घेरैगी।

बड़े-बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक, योगी तथा भविष्य के जाननेवाले किसी ने इनका भेद न पाया कि क्यों ऐसा होता है। कोई कहते हैं—यह ईश्वर की इच्छा है; दूसरे मानते हैं—नहीं, संस्कार का, पूर्व-संचित का यह परिणाम हैं "जो जस करै सो तस फल चाखा"। और लोग सिद्ध करते हैं, यह सितारों की गरदिश है। संशोधक और रिफार्मर जुदा ही तान भर रहे हैं कि हम अपने यहाँ प्रचलित कुरीतों को उठाय समाज का संशोधन क्यों न कर डालें, जिसमें हमारे में कौमियत और एकता आवे, मुलकी जोश पैदा हो, कालचक्र की जो वक्रगति है, ऋजु गति हो जाय। कोई कहते हैं—यह बाल-विधवाओं की आह है; दूसरे कहते हैं—यह बाल्य-विवाह का सब दोष है, इत्यादि-इत्यादि। हमारे धूर्त शिरोमणि इसी पर ज़ोर दे रहे हैं कि ब्राह्मणों का मान और हिन्दू-धर्म पर विश्वास उठता जाता है, उसी का यह फल हैं; कोई-कोई दबी जबान हिम्मत बाँध कही तो डालते हैं कि यह सब राजा के पाप या पुण्य का परिणाम है। जो हो वास्तव में यह क्या गोरख-धन्धा है, कुछ नहीं खुलता।

सच पूछो तो आदमी की शैतानी अकिल एक हारी है, तो इसी बात में कि वह कुछ हल नहीं कर सकती कि आज क्या है, कल क्या होगा और इसी को इस संसार का बड़ा इंजीनियर अपने हाथ में रक्खे हुए है। यह इस कालचक्र के चक्कर ही का प्रभाव है कि रोम, इन्द्रप्रस्थ, अयोध्या, पाटलिपुत्र, कन्नौज आदि बड़ी-बड़ी राजधानियाँ, जो किसी समय आदमियों का जंगल थीं, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई योजन और कोसों के हिसाब से थी और जहाँ की मनुष्य-संख्या ४० लाख २० लाख १० लाख की गिनती की थी, वह इस समय बहुधा तो उजाड़ घुग्घुओं के घोसलों के लिए उपयुक्त हैं; कोई-कोई नाम मात्र को अब तक विद्यमान हैं। लन्दन, पेरिस, कल-

कत्ता, बम्बई जो एक समय बहुधा तो उजाड़ जंगल तथा जलमग्न अनूप थे, वहाँ अब आकाश से बात करते हुए गगनस्पृक् प्रासाद स्वर्णमण्डित मन्दिर खड़े हुए हैं। जहाँ चंचला लक्ष्मी अपनी चंचलता से मुँह मोड़ चिर-स्थायिनी हो समुद्र की तरंग सी हिलोरैं मार रही हैं, इत्यादि। इस काल-चक्र की महिमा का पार कौन पा सकता है, तब हमारी क्षुद्र लेखनी किस बूते पर इस चक्कर में पड़ने का अधिक साहस करे? पढ़नेवालों के चित्त विनोदार्थ इतना ही सही।

जनवरी, १९०३

संसार कभी एक सा न रहा

सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी तथा दूसरे-दूसरे ग्रह और उनके उपग्रह आदि यावत् भगण सब अपनी-अपनी कक्षा में चलते हुए कभी एक क्षण के लिए भी स्थिर नहीं रहते। तब इस दृश्य-जगत् को संसार 'चलने वाला' कहना उचित ही है। स्थिर पदार्थ चाहे चिरकाल तक एक रूप में रहे भी; पर जो चलने वाले हैं, वे एक ही प्रकार के और एक ही रूप में सदा क्योंकर रह सकते हैं। जो कल था, सो आज नहीं है, जो आज है सो कल न रहेगा। छिन-छिन में नये-नये गुल खिलते हैं। लड़के से जवान हो गये, जवान से बूढ़े हो जाते हैं। वह प्यारी-प्यारी मुग्धमुखच्छवि, जिसे देखते ही आँख लुभा उठती है, जी जुड़ाता है, जिसके धूलि-धूसरित स्वभाव सुन्दर सुहावने कोमल अंग-प्रत्यंग के दरस-परस को भाग्यहीन जन तरसते हैं —

चिरात्सुतस्पर्श रसज्ञतां ययौ।

उसका सब रंग-ढंग जवानी के आते ही अथवा यों कहिये पौगण्ड बीत जाने पर किशोर-अवस्था के पहुँचते ही कुछ और का और हो गया। बाल्य-अवस्था की मुग्धमाधुरी अकृत्रिम सरलता और सिधाई में सयाना-पन और कुटिलाई जगह करने लगी। स्वाभाविक सौन्दर्य में बनावटी सलोनापन-सा समाया, नई-नई सजावट की ओर जी झुक पड़ा। एक पैसे की शीरीनी और छदाम के मिट्टी के खिलौने में जहाँ ब्रह्मानन्द का सुख मिलता था, वहाँ अब दो-चार आनों की गिनती ही क्या है? रुपयों की बात-चीत आ लगी। लड़काई का उदार समभाव और सन्तोष कहीं एक बात में भी न रह सका। तृष्णा, लालच, हिर्स, दोस्ती या दुश्मनी का बाजार गरम हुआ, आशिकी और माशूकी का चसका डूबा, विषम भाव और मन की कुटिलाई ज्ञान-शक्ति बढ़ने के साथ ही साथ नित-नित

अधिक होती गई। हौले-हौले पूरी तरुनाई तक पहुँच नीचे को खिसकने लगे, गदहपचीसी को नाँघ चेहलसाली को भी डाँक अधेड़ की गिनती में आ गये। बस अब खिसके सो खिसके, बाल चाँदी होने लगे, सौ-सौ तरह पर खिजाब कर पुराने ठिकरे पर नई कलई की भाँति पहले का-सा कुदरती रंग फिर लाया चाहते हैं, किचकिचाते हैं, बार-बार सोचते हैं कि नई जवानी और चढ़ती उमर का जोश तरोताजा हो जाता। बालों ही के सुफैद हो जाने के गम में डूब बैठे थे कि दाँत जो हीरे की दमक को भी दबाते हुए मोतियों की लड़ियों की तरह सोह रहे थे, कगारे पर के रूख की भाँति एक-एक कर गिरने लगे। मुख के भीतर थोड़ी-थोड़ी दूर पर मानों विन्ध्य-पर्वत का एक-एक खड्ढा-सा खड़ा कर दिया गया। उधर नेत्र ने भी जवाब दिया, चश्मे की हाजत हुई, दिमाग कमज़ोर पड़ गया। हाफिजा दुरुस्त न रहा। जो बात पहले एक बार के कहने या सुनने से अकिल की सराय में मानों सदा के लिए टिक-सी गई थी, उसे रूठे पाहुने की भाँति बार-बार बुलाते हैं, घोखते रहते हैं, पर सिवाय उचट जाने के वुद्धि में किसी तरह ठहरती ही नहीं।

प्राप्ते सन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ्करणे।

इतने में कान भी मान लाये, मुँह पर सिकुड़न आने लगी, हाड़ों को छोड़-छोड़ कर माँस और चिमड़ी ठौर-ठौर इकट्ठी हो शरीर के समथर मैदान में जगह-जगह टीले से खड़े हो गये।

श्रुतिर्नष्टा स्मृतिर्दूरं पदात्प्रचलिता द्विजाः वार्द्धक्यं किमनुप्राप्तम् ?

अस्तु, यों ही होते-होते साठ सत्तर अस्सी पहुँचे, दिन करीब आ गये, मुँह बाये रह गये।

"राम नाम सत्य है दो चार नित्य है।" **भतानि कालः पचतीति**

वार्ता। अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरं।
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्।

संसार कभी एक-सा न रहा—हमारा यह सिद्धान्त अब आया मन में। खैर, अब आगे बढ़िये। पञ्चभूतात्मक पञ्चप्राणवाले जीव जो इस चल और असार संसार में एक से न रहे, तो कौन अचरज है! जब अटल और सदा के लिए स्थिर बड़े-बड़े पहाड़ सैकड़ों कोस के मैदान और जंगल भी काल पाय और के और हो जाते हैं।

पुरा यत्रस्रोतः पुलिनमभवत्तत्र सरिताम्।
विपर्यासंजातो घनविरल भावः क्षितिरुहाम्।।

उत्तर राम-चरित्र में भवभूति कवि लिखते हैं कि दण्डक वन में जो पहिले सोते रहे, वे नदियों के प्रवाह के कारण अब पुलिन बन गये। घने और बिरले जंगलों में उलट-पुलट हो गई। जहाँ घना जंगल था वहाँ अब कहीं-कहीं दो-एक पेड़ रह गये और जो बिल्कुल पठारी मैदान था, वह घने जंगल में बदल गया इत्यादि।

तो निश्चय हुआ कि परिवर्तन जिसके हमारे पुराने बुड्ढे अत्यन्त विरुद्ध हैं इस अस्थिर जगत् का एक मुख्य धर्म या गुण है। वही नये लोग इस परिवर्तन पर अनमन न होकर चिढ़ते नहीं; वरन् इसे तरक्की की एक सीढ़ी मानते हैं। हमारे अभाग से भारत में परिवर्तन को यहाँ तक लोग बुरा समझते हैं कि दिन-दिन अत्यन्त गिरी दशा में आकर भी परिवर्तन की ओर नहीं मन दिया चाहते—यह हमारी परिवर्तन-विमुखता ही का कारण है कि हजार वर्ष से विदेशियों का पदाघात सहकर भी कभी एक क्षण भर के लिए जीवनी-नाड़ी में रक्त-सञ्चालन न हुआ। जैसी इल्म की तरक्की इस उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे देश में हुई है, वैसी किसी दूसरे देश में होती, तो वह देश भूमण्डल का शिरोमणि हो जाता। परिवर्तन-विमुखता के कारण इस समय की विद्यावृद्धि दाल में नमक की भाँति मालूम होती है और जो धीमा क्रम यहाँ के लोगों में देखा जाता है, उससे

यही निष्कर्ष निकलता है कि इस जीर्ण भारत के भाग्योदय के लिए अभी कई शताब्दी चाहिए। अस्तु, चाहे जो हो, जो हम सब हैं, दस वर्ष पहले ऐसे न थे, थोड़े दिन के उपरान्त कुछ और हो जायँगे, क्योंकि यह संसार कभी एक-सा न रहा।

फरवरी, १८९२

ईश्वर भी क्या ही ठठोल है !

लोग कहेंगे, इसे कुछ खफ़गान हो गया है, इस उन्नीसवीं सदी के फैशन के अनुसार नास्तिक बनने का हौसला चर्राया है, जो उस अगम अपार 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' की शान में भी ऐसी बेअदबी और ढिठाई के साथ कुफ्र का कलमा कह रहा है। जो हो, पर मुझे तो बहुत-से अस्त-व्यस्त कारखाने देख कुछ ऐसी ही जी में भासती है कि यह या तो कुम्भ-करण के जेठा भाई बनने की हवस बुझाय रहा है, या यदि सब अस्तव्यस्त कारखाने ईश्वरता के निदर्शन हैं, तो वह घनघोर नींद में सो रहा है। या जागता है, तो कोई बड़ा ही ठठोल दिल्लगीबाज मसखरा है! नहीं तो बेफिक्र और असावधान होने में तो कोई शक नहीं है।

जिस कसौटी, परिभाषा और सूत्र के अनुसार हम लोग आपस में एक दूसरे को जाँचते और परखते हैं, वही परिभाषा यदि वहाँ भी लगायें उसे परखें, तो उनकी ईश्वरता की सब कलई खुल जाय और दुनिया की हालत देख अवश्य चित्त में यही समाय कि वह कोई बड़ा ही अनोखा खेलवाड़ी है। सब भाँति स्वतन्त्र आप एक बड़ा नटनागर बना बैठा है और इस संसार को एक नाट्यशाला की रंगभूमि बनाय जैसा चाहता है, वैसा खेल खेला करता है। भला यह मसखरापन नहीं, तो और क्या है कि मनुष्य एक तो निपट परतन्त्र उसमें भी उसका मन ऐसा नाजुक और कमजोर कर दिया गया, पर मुकाबिले के लिए लड़ाई इसकी उन दुर्घट अजेय विषय-वासना के साथ ठान दी गई, जो शिकारी जानवरों की तरह सभी इसे अपने कब्जे में लाय नष्ट-भ्रष्ट किया चाहते हैं और इन लुटेरों से बचने के लिए जो सिपाही विवेक इसके साथ कर दिया गया है, वह न जानिये किस अन्धे ताखाने में पड़ा-पड़ा सो रहा है कि प्रतिक्षण मन बेचारे पर क्या-क्या आफतें आती रहती हैं; विवेक अलमस्त बेपरवाह को खबर

तक नहीं होती। इस पर तुर्रा यह कि सब तरह कैद में पड़ हमारे मन को कोई इखतियार हासिल नहीं कि विवेक से कुछ कह सकें, जिसका चेतना और जग उठना कभी को आकस्मिक घटना, कभी को निरन्तर के अभ्यास, सत्संग या सत् शिक्षा पर निर्भर है। कभी को ऐसा भी होते देखा गया है, कि मन सब ओर से लाचार और शोक-मोह के शिकंजे में अत्यन्त ही कसा हुआ होकर विवेक की शरण ढूंढ़ने लगता है।

तात्पर्य यह कि ये जितनी बातें हैं, वे सब मनुष्य की शक्ति के बाहर हैं, जिस पर उस बड़े नटनागर की कृपा हुई या जिसे उसने चाहा कि अपने खेल-खिलौने से बरी करें, उसके चित्त में विवेकभानु का प्रकाश कर दिया गया, नहीं तो निर्विवेकियों को पद-पद में गिरते-पड़ते लड़खड़ाते देख आप बैठे-बैठे खिलखिलाया करता है और अपनी ठठोलबाजी को खूब तरक्की देता जाता है। और आगे बढ़िये, कितने गरीब भुक्खड़ कुटुम्बी दाने-दाने को तरसते हुए सबेरे से साँझ तक गाढ़ी मेहनत के उपरान्त इतना भी नहीं पाते कि कुटुम्ब को मनमानता पाल सकें। आज घी है, तो तेल चुक गया; लकड़ी है, तो नोन का टोटा है। इधर एक लड़का पड़ा-पड़ा भूख-भूख चिल्ला रहा है, उधर दूसरा दूध बताशे के लिए मचलाया हुआ है। घट-घट की सब बात जाननेवाला विश्वव्यापी विश्वम्भर कहलाकर भी ज़रा नहीं शरमाता, वरन् पड़ा-पड़ा ताकता हुआ मनोमन प्रसन्न फुटेरा होता जाता है। उधर एक वज्र सूम के पास एकबारगी मनमाना असंख्य धन कुरै दिया गया, जिसका विलसनेवाला भी ठूंठे पेड़ के माफिक **"स्तम्भेन नीवार इवावशिष्टः"** सिवा उस सूम के दूसरा कोई नहीं है कि इसके मरने के बाद उस धन को काम में लावेगा, जब तक जिया, अत्यन्त कदर्यता के साथ जिन्दग़ी काटी, किसी को कुछ देना तो सीखा ही नहीं। अपने खाने-पहनने में भी किफायत करता रहा। यहाँ तक कि तन्द्रा लगने का समय आ गया, प्राण शरीर से प्रयाण किया चाहते हैं; पर रुपया जमा करने ख्याल दूर न हुआ। उस समय भी राम-राम कहने के पलटे—हाय रुपया! हाय रुपया! कह कर तन त्यागा। यह बैठा-बैठा उस कृष्ण की सब लीला

देख-देख हँसा किया, जिसके लिए गरीब कुटुम्बी जन्म भर तरसा किया। वह धन यहाँ दान-भोग के बिना व्यर्थ और निष्फल पड़ा है। क्या इसी को सावधानी और न्याय कहेंगे?

मसल है,—"जबरा मारे रोवै न दे।" हाड़ वही, मांस वही, चाम वही, लहू वही। **"तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद हमरे लहू तो तुम्हरे दूध।"** तब यह जित और जेता का भेद कैसा? तुम्हें जेता किया, हमें जित क्यों कर दिया? हमने ऐसा क्या अपराध किया कि सैकड़ों वर्ष से भुगत-मान भुगतते चले आते हैं और अब तो वह दशा आ लगी है कि जीवन भारू हो रहा है, तब भी उस ठठोल के मन में जरा दया और इनसाफ जगह नहीं पाता। हमारे किसान मर-मर, पच-पच करोड़ों मन गेहूँ पैदा करें। वह यदि सब का सब हमारे काम में आवैं, तो चुकाये न चुकैं; पर गेहूँ खेत में रहता है तभी रेलीब्रदर के कारिन्दे गाँव-गाँव घूम खेत का खेत चुकता कर लेते हैं हम मुँह ताकते रह जाते हैं। फसल पर भी बारह सेर तेरह सेर मे आगे नहीं पा सकते। इसी को दया और इन्साफ कहैंगे? काबुल की पहाड़ी धरती में मेवा पैदा कर देना और व्रज की उर्वरा भूमि में कटैली करील का जन्म। पढ़े-लिखे विद्वानों को निर्धन मूर्ख, निर्विवेकी को धनीपात्र, गुलाब के फूल में काँटा—सुपात्र सुयोग्य को एक कुकाला भूतिन—सर्वांग सुन्दर स्वच्छ हिन्दी को जलावतन—परेतिन की शकल जाल और फरेब से भरी उर्दू को पश्चिमोत्तर की अदालत में स्थान-दान—इत्यादि सब उसका ठठोलपन नहीं तो और क्या है?

जनवरी, १८९३

दिलबहलाव के जुदे-जुदे तरीके

जब आदमी को कुछ काम नहीं रहता, तो दिल बहलाने को कोई न कोई ऐसा एक काम निकाल लेता है, जिसमें समय उसको बोझ न मालूम हो और यह कहने को न रहे कि वक्त काटे नहीं कटता।

इस दिल-बहलाव के जुदे-जुदे तरीके हैं, जिनमें थोड़े-से यहाँ पर दिखाये जाते हैं—कितने सब काम-काज से छुटकारा पाय दिल बहलाने को बाहर निकलते हैं। सदर बाजार के एक छोर से दूसरे तक दो चक्कर किये, कभी इस कोठे पर ताका कभी उस अटारी पर इशारेबाजी हुई, दिल बहल गया, घर लौट आये। कितनों का दिल-बहलाव हुक्केबाजी है, सब काम से फुरसत पाय, किसी बैठक में आ बैठे, हाहा-ठीठी करते जाते हैं, और चिलिम पर चिलिम उड़ाते जाते हैं—हाहा-ठीठी, धौल-धक्कड़ का मौका न मिला, तो वे बे-जड़, बे-बुनियाद जी-उबियाऊ कोई दास्तान छेड़ बैठे, घण्टों तक उसी में समय बिताया, घर की राह ली दिल बहल गया। कितने चले जाते हैं, रास्ते में कोई दोस्त मिल गये, दो-दो कच्ची-पक्की औंड़ी-बौंड़ी इन्होंने उसे कह सुनाया, उसने इन्हें कहा, अपनी-अपनी राह ली, सब थकावट दूर हो गई, मन बहल गया। कर्कशा-अपढ़ स्त्रियों का दिल-बहलाव लड़ाई है। घर-गृहस्थी के सब काम पिसौनी-कुटौनी से छुट्टी पाय, जब तक दाँत न किर्रलें और आपस में झोंटी-झोंटा न कर लें, तब तक कभी न अघायँ; जी ऊबता रहे, चित्त में उदासी छाये रहै, मानों उस दिन उन्हें उपवास हुआ, चुगल चवाई ईंड़ी धूर्तों का दिल-बहलाव निन्दा और चवाव है, दो-चार पुराने समय के खबीस इकट्ठे हो तमाखू पिच्च-पिच्च थूकते जाते हैं और सौ वर्ष का पुराना कोई जिकिर छेड़ बैठे। बहुधा जात बिरादरी के सम्बन्ध की कोई बात अवश्य होगी, नाक चढ़ाय-चढ़ाय मुँह बगार-बगार किसी भले मानुष के गुण में दोष उद्घाटन करते दो-चार कच्ची-पक्की कह

सुन लिया, मन बहल गया। कोई-कोई ऐसे मनहूस भी हैं कि फुरसत के वक्त किसी अँधेरी कोठरी में हाथ पर हाथ रक्खे, पहरों तक चुपचाप बैठे रहने ही से दिलबहलाव हो जाता है। बाज-बाज नौसिखिये, नई रोशनी वाले, जिनका किया धरा आज तक कुछ नहीं हुआ, मुल्क की तरक्की के खब्त में आय आज इस सभा में जाय हड़ाकू मचाया; कल उस क्लब में जा टाँय-टाँय कर आये, दिलबहलाव हो गया। इन्हीं में कोई-कोई घाऊ-घप्प गुरूघण्टाल किसी क्लब या समाज के सेक्रेटरी या खजानची बन बैठे और सैकड़ों रुपया वसूल कर डकारने लगे। भाँड़ों की नकल, सवारी की सवारी, जनाना साथ, आमदनी की आमदनी, दिलबहलाव मुफ्त में। सच पूछो, तो इनका दिलबहलाव सब से अच्छा; हमें ऐसा दिलबहलाव मिलता, तो सिवाय दिल बहलाने के कोई काम करने के डाँड़े न जाते। धन्य हमारा समाज, धन्य हमारे लोगों की तबियत की झुकावट! जिनके बीच ऐसे-ऐसे उमदा से उमदा दिलबहलाव—मौजूद हैं। इसी दिलबहलाव का एक क्रम नीचे के श्लोक में दिया गया है—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन तु मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥

सच है, विद्यारसिक पढ़-लिखे विद्वानों का क्रम अपढ़ साधारण लोगों से जैसा और सब बातों में निराला है, वैसा ही दिलबहलाव भी अनोखे ढंग का होना ही चाहिए। सामान्य मनुष्यों का दिलबहलाव विषय-वासना का एक अंग रहता है, वहीं विद्वानों का दिलबहलाव विद्या-सम्बन्धी बुद्धि का बढ़ाने वाला और शुद्ध सात्विक क्रम का होता है। इसी से ऊपर कहे श्लोक में लिखा गया है कि 'बुद्धिमानों का काल काव्यशास्त्र के पढ़ने-पढ़ाने के आनन्द में बीतता है, मूर्खों का समय दुर्व्यसन और सोने में नष्ट होता है।' अति दुरूह कठिन विषय, जिनमें मस्तिष्क को विशेष परिश्रम पड़ता है, चिरकाल तक उसमें अभ्यास के उपरान्त बहुधा जब तबियत उस ओर से उखड़ जाती है, तब वैसे विषय जिनमें बुद्धि को अधिक परिश्रम

नहीं है और सुकुमार कोमल बुद्धि वालों के पढ़ने के योग्य है; जैसा काव्य, नाटक, उपन्यास, नावेल्स, किस्से-कहानी, इतिहास, भूगोल इत्यादि के पढ़ने से देर तक दिमाग को काम में लाने से जो उस पर बोझा आ जाता है, वह हल्का होकर दोचन्द उस दुरूह विषय की ओर धँसता है। नैयायिक वैयाकरण और गणितज्ञ "मेथिमेटिशियन" का दिलबहलाव गदाधारी जागदीशी और दीक्षित की फक्किकाओं के हल करने से जैसा होता है, वैसा किसी दूसरी बात से नहीं होता। कहावत चल पड़ी—वैयाकरण अर्द्ध-मात्रा के लाघव में पुत्र-जन्म के आनन्द का उत्सव मानते हैं—

अर्धमात्रालाघवेन वैयाकरणाः पुत्रोत्सवं मन्यन्ते।

इसका यही प्रयोजन है कि जिस विषय का मनन करो, वह मन में बैठ जाय तो मन प्रसन्न हो जाता है और इतनी खुशी होती है, मानों लड़का पैदा हुआ। इसी तरह "युल्कैदिस" बीजगणित या कोई दूसरे हिसाब के सवाल हो जाने पर गणित करने वाले के चित्त में जो सुख होता है, उसके आगे विषय-वासना के निकृष्ट कोटि वाले आमोद-प्रमोद किस हकीकत में हैं। इसी तरह सभ्य समाज का भी दिलबहलाव इधर-उधर बेकाम घूमने के बदले अपने समान उदार प्रकृति वालों के साथ संलाप है, जिनकी आपस की बातचीत उत्तम उपदेश से पूर्ण रहती है, इसी से किसी ने कहा है—

सदा सन्तोऽभिगन्तव्याः यद्यप्युपदिशन्ति नो।
या हि स्वैरकथास्तेषामुपदेशा भवन्ति ताः॥

सुसभ्य सत्पुरुष यद्यपि कुछ उपदेश न करें, तो भी उनके पास जाना उत्तम है, जो आपस की उनकी बातचीत है, वही उपदेश होती है। कृपणता की मूर्ति हमारे सेठजी का दिलबहलाव रुपये की गंजिया है, हुण्डी-पुर्जे के भुगतान से छुट्टी पाय जब कुछ काम न रहा गंजिया खोल बैठे, दो-चार हजार रुपया गिन डाला, दिल बहल गया। शराबी तथा जुवारी का दिल-बहलाव शगल है। पक्के जुवारी को जिस दिन हजार-पाँच-सौ जीत हार न हो ले, जी ऊबता रहता है, जिनके जीवन का सर्वस्व द्यूत है।

द्रव्यं लब्धं द्यूतेनैव दारा मित्रं द्यूतेनैव।
दत्तं भुक्तं द्यूतेनैव सर्वं नष्टं द्यूतेनैव॥

जुवारी जुवा को बिना सिंहासन का राज्य मानता है—

न गणयति पराभयं कुतश्चित् हरति ददाति च निन्यमर्थजातम्।
नृपतिरिव निकाममायदर्शी विभवता समुपास्यते जनेन॥

ऐसा ही शराबी जब तक पीते-पीते बेहोश हो चहबच्चे में न गिरे, उसका दिल न बहलेगा। हमारा दिलबहलाव उमदे से उमदा टटका रसीला मजमून है, जिस दिन कोई नई बात सूझ गई। दस मिनिट में खर्रे का खर्रा लिख डाला। उस दिन चित्त बड़ा प्रसन्न रहा, नहीं बैठे-बैठे सिर पर हाथ रक्खे पहरों सोचते रहते हैं, अन्त को उद्विग्न खिन्न चित्त निरस्त हो बैठते हैं। ऐसा ही अपने रसिक ग्राहकों को एक-दो दिन के लिए दिलबहलाव हम होते हैं; जिस दिन हम उनसे जा मिलते हैं, वे अपना सुदिन मानते होंगे। इत्यादि इत्यादि, दिलबहलाव के जुदे-जुदे तरीके यहाँ दिखाये गये।

जनवरी, १८९६

उपदेशों की अलग-अलग बानगी

जहाँ गृहस्थ के लिए सबेरे से उठ साँझ लौं अनेक-अनेक चिन्ता और झौंझट दावनगीर रहती हैं और नोन-तेल-लकड़ी की फिकिर एक दम भी फुरसत नहीं लेने देती, वहाँ लोगों का तरह-तरह का उपदेश भी जी को डाँवाडोल किये रहता है। किसका-किसका उपदेश सुनें, किसे सच्चा मानें, किसे झूठ। गुरू लोग उपदेश देते हैं—बच्चा, दुनिया के बखेड़ों में मत पड़ो, विद्या-बुद्धि दोनों सन्मार्ग की लुटेरी हैं, तुम अपने कोने में बैठ गोविन्द भजन किया करो, जो कुछ कमा लाओ, स्त्री-पुत्र चाहे मुँह ताकते रह जायँ मोटा-झोटा खा-पी जो कुछ बचे उसे ठाकुरजी को अर्पण कर दिया करो। सन्तों के सत्कार से जो बचै उसे गुरू महाराज की भेंट धर दिया करो, थोड़े से अँगरेजी पढ़े विधर्मी लोग उठ खड़े हुये हैं, जिन्होंने अपना नाम संशोधक और रिफार्मर रख लिया है। वे भाँति-भाँति की कमेटियाँ और सभायें कर तुम्हें उसमें बुलावेंगे और सब तरह पर तुम्हें बढ़ावा देंगे; पर तुम चौकस रहना, उनकी ओर न झुक पड़ना, नहीं तो बच्चा नरक की आग में पड़े-पड़े सड़ोगे, कभी उद्धार न पावोगे !

पादरी साहब बाजार में खड़े उपदेश देते हैं—प्रभु ईसा की सरन गहो, वह तुम सबों के पाप की गठरी का हम्माल बन सूली पर चढ़ गया, न कुछ दान का काम, न तपस्या की जरूरत, न बड़े-बड़े संयम-नियम से शरीर सुखाने की आवश्यकता है, उमदा से उमदा शराब पिया करो, देह को आराम और सुख पहुँचाने में कहीं से कसर न होने पावे। सिर्फ ईसा पर इमान लाओ, मुक्ति तुम्हारी दासी और किंकरी होगी, बस और चाहिए क्या—**भुक्तिश्च मुक्तिश्च करस्थ एव।**

अस्सी बरस की खोड़ही जप्पल बुढ़ियाएँ उपदेश देती हैं—बेटा, अब तुम सयाने भये, घर दुआर की फिकिर रक्खा करो, दुलहिनिया की

नथिया टूट गै है, बतसिया का ब्याह नियरान है, सदा फक्कड़ बने रहने से काम न सरिहै। कुपूत आवैं तपत सपूत आवैं नवत, भगवान् देखाई चार दिना में तुम नाती पोता के होइ हौ। झन-झन पट-पट करते घर में पाँव न रक्खा करो, पानी भरी खाल कौन जानै आज का हैं कल का हो। ऐसी चाल चलो जेह् में जग में हँसी न हो।

घर वाली समझाती है—हम सौ-सौं बार कहा सास नन्द की बात हमसे सही नहीं जाती, हमैं अलग लैके रहो, महीने में जितना कमाते हो भाई-बन्धन के खिलाने पिलाने में सब का सब उठ जाता है, उसी को जमा करते रहो तो गहनों से नख से सिख तक हम लद जाँय। अन्त में ये भाई-बन्ध तुम्हारे कोई काम न आवैंगे। पास पूँजी बनी रहैगी तो सब भाई भतीजे बनैंगे, नहीं तो कौड़ी के तीन-तीन होंगे तुम जानते नहीं। न बाप न भैया सब से बड़ा रुपैया, सो रुपये को तुम ठिकरी कर रहे हो, अभी तुम्हें समझ नहीं पड़ता पीछे पछताओगे।

यार दोस्त उपदेश देते हैं—वाही हो! दुनिया के सुख और आराम से मुँह मोड़ चरित्र शोधन के लिए जी दिये डालते हो, जिसमें अपना बनै सो करो, जवानी की उमर खाने खेलने की होती है, तुम अभी ही से बुड्ढों की तरह बुजुरगी और वुर्दबारी का जामा ओढ़ बैठे सो क्यों? घर में पड़े-पड़े सड़ा करते हो। शाम को जरा बाजार की हवा खा आया करो, थोड़ी देर के लिये यार दोस्तों से भी मिल लिया करो, लो एक ग्लास छको तो—

आकबत की खुदा जानें अब तो आराम से गुजरती है

मा से मधुसूदन कहो वा दामोदर नाम।
रा को राम प्रणाम कर भरदे मदिरा जाम।
शरा के बाब में हम को तो कुछ कलाम नहीं।
शराब यार पिलावैं तो कुछ हराम नहीं॥

इत्यादि, सैकड़ों महावाक्य प्रमाण के लिये कहो लर बाँध दें, जिस

लर को तुम्हारे पर दादा भी आकर तोड़ा चाहें, तो न टूटैंगी। तब तुम्हें आगा-पीछा करने की जरूरत अब क्या है, जब तक बेतकल्लुफी न हुई, तब तक दोस्ती क्या!

बेगम साहबा कहती हैं—खुदा कसम, यही जी चाहता है तुम्हें आँख की ओट न करैं। जब तक नहीं देखतीं, जी उकताया करता है। हमसे क्या कुसूर बन पड़ा, जो आप कई दिनों से नहीं आयें? यह निठुराई कहाँ सीखा? हे मेरे कन्हैया मैं तो अपना धन प्रान जीवन सब तुम्हें सौंप चुकी, तुम्हारे अधीन चतुर चूड़ामणि तुम खुद सयाने हो मैं तुम्हें क्या सिखाऊँ। उस दिन आपने पाँच सौ रुपये दिये थे, पर अम्मा कहती हैं उतने में छागल तैयार न होगी (हँसकर) अम्मा नाहक उकताती हैं। आपकी सखावत का ख्याल किया जाय तो पाँच सौ क्या, पाँच हजार कुछ बड़ी बात नहीं है। बहती गंगा में अब न हाथ धोओगे तो दूसरा वक्त कौन सा होगा।

सनातनधर्म वाले उपदेश देते हैं—'बाप दादा की लीक पीटते जाओ यही सम्पूर्ण वेदशास्त्र का निचोड़ है। हिन्दू धर्म का सारांश है।' हमारा उपदेश है—'बाप-दादा की लीक पीटने के बराबर कोई दूसरा पाप ही नहीं है, बाप-दादाओं की कमअकली पर तुम्हें घिन न हुई, तो तुम्हारे पढ़ने-लिखने पर लानत है। उनकी लीक का मेटना ही महापुण्य है, सपूती है, मर्दी है, हिन्दुस्तान को सभ्यता के शिखर पर रख देने का सुगम उपाय है।' यह सनातनधर्म नहीं है वरन् प्रचलित बुराइयों को भला काम समझ उसको जारी रखने के लिये टट्टी की आड़ में शिकार है। ब्राह्मणों के लिये छोटे बड़े सबों को अपने चंगुल में रखने का सहज लटका है। हिन्दू जाति के अधिक पतित होते जाने का खुला द्वार है। अफसोस बदमाशों ने जिसमें समझा कि यह कौम को कमजोर और बिगाड़ने का बड़ा अच्छा जरिया है, उन्हीं-उन्हीं बातों को चुन-चुन कर सनातनधर्म में रख दिया। अब इन दिनों के लोग "रिफार्म" सुधार और संशोधन की दृष्टि से उन्हें श्रुति स्मृति से मिलाते हैं, तो कहीं पता नहीं लगता कि किस मूल पर यह बुराई और कुरीति चल पड़ी, बल्कि श्रुति और शास्त्रों में जिसे मना किया, पाप और

बुरा कहा, उसी को सनातन का सियापा गाने वाले बदमाशों ने विहित पुण्य और भलाई का काम कहा। इन घिनौने सनातन से दूर हटना ही अब कल्याण का मार्ग है। हमारे इस अन्तिम उपदेश पर जो दृढ़ होंगे, वे दास्यभाव की बेड़ी से छूट बहुत जल्द प्रभुता पाने के अधिकारी हो जायँगे। हाथ कँगने को आरसी क्या, जिसका मन हो आजमा के देख ले, इत्यादि। हमने बहुत तरह के उपदेश आपको कह सुनाया, अब उन पर चलना और उन्हें मानना आपके अधीन है।

यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयम्।

न जानिये किस गोठिल अकिल वाले अहमक ने इस कहावत को प्रचलित कर रक्खा है। हम कहते हैं यदि शुद्ध है और लोक-विरुद्ध है, तो वह अवश्य करणीय है। जब हमें निश्चय हो गया, यह शुद्ध है शास्त्र और अकिल दोनों इसे कबूल करती हैं, तब उसके न करने में आगा-पीछा की जरूरत क्या रही? जैसे १५ वर्ष की औरत २५ वर्ष के साथ ब्याही जाया करे तो कौन सी हानि है! शास्त्र भी इसमें सहमत है और अकिल कबूल करती है कि १५ वर्ष में स्त्री अपनी पूरी उमर को पहुँच जायगी; पुरुष भी तब तक गदहपचीसी डाँक पढ़-लिख तैयार हो जायगा। बाप-माँ को बोझ न होकर अपना निर्वाह अपने आप करने लायक हो गया, तब सुख से जीवन पार करेगा और पुष्ट रज-वीर्य के सन्तान पैदा हो देश के सौभाग्य के हेतु होंगे। पर यह लोक-विरुद्ध होता है, संसार में क्या मुँह दिखावें कि इतने बड़े-बड़े लड़की लड़के हो गये कौन-सी कज है जो ब्याह नहीं होता। मालूम होता है, जाति में हेठे हैं। इस लोक-निन्दा की डर से जन्म-पर्यन्त सब तरह का क्लेश उठाते हैं, अपने औलाद की तरक्की में हर तरह बाधा पहुँचाते हैं; किन्तु यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं वाली कहावत को चरितार्थ किये जाते हैं।

शास्त्र में लिखा है—दान पात्र को देना चाहिये। अकिल भी मानती है कि हमारे यहाँ जो बड़े-बड़े दान लिख दिये हैं, सो इसीलिये कि वे दान

योग्यता और विद्या के हिसाब से दिये जायँगे, तो संस्कृत का अखण्ड पठन-पाठन बना रहेगा, लोग शास्त्र के अभ्यास में परिश्रम करते रहेंगे और खूसटों के मुकाबिले उनकी विशेष कदर रहेगी, सो अब इस कहावत के अनुसार ऐसा करने से लोक-विरुद्ध होता है, जिनको सदा से मानते आये हैं, उन्हें कैसे न मानैं, चाहे जैसा अपावन और अपाहिज हो, बड़े से बड़ा दान पाने का वही अधिकारी है, जिसे बाप-दादा लीक पीटते आये हैं। इस तरह के दो उदाहरण हमने दिये ; पर इस कहावत के अनेक उदाहरण आपको मिल सकते हैं। तात्पर्य यह है, हमारी तरक्की के अनेक विघातकों में ऊपर की यह कहावत भी एक महाविघातक है।

सितम्बर, १८९४

विश्वास

विश्वास के वृक्ष का अंकुर सरल और विमल चित्त के आलवाल में जमता है और धर्मांकुशरूप जल से सिंच हरा-भरा और प्रफुल्लित हो इह लोक और परलोक सम्बन्धी मीठे और स्वादिष्ट फलों से लद संसार में मनुष्य के जीवन को सार्थक करता है। सुमार्ग पर चलने, कुमार्ग से बचने और जगत् के प्रबन्ध की उत्तमता के लिये विश्वास एक मात्र सहारा है। अदृष्ट और परलोक में विश्वास से जो कुछ भलाई होती है, उसकी व्यवस्था कौन जाने, बिन देखी बात का ठीका कौन ले और कौन लोगों के साथ सिर पचावे।

प्राय: दार्शनिक और कुतर्की विश्वास की प्रणाली को एक खेल-खेलौना समझते हैं और विश्वास करनेवालों पर हँसते हैं, पर जिन सत्पुरुषों की अकुटिल सरल बुद्धि में पूर्वापर का विचार और स्वच्छ रीति पर संसार-चक्र की धुरी के चलने का रवैया है, वे विश्वास को तुच्छ कभी न समझेंगे। चाहे दार्शनिक होने के कारण विश्वास पर विशेष श्रद्धा न रखते हों, पर जगत् के प्रबन्ध की रक्षा के लिये वे यही कहेंगे कि जहाँ तक प्रजा का विश्वास धर्मपथ और उपासना-काण्ड में दृढ़ रहे तहाँ तक अच्छा। हजारो लाखों ऐसे मनुष्य हैं, खासकर हिन्दुस्तान में, जो सर्वथा विद्यागुण-शून्य हैं, पर धर्म और ईश्वर तथा परलोक में विश्वास के कारण अनेक पापकर्म से बचते हैं और अशक्त दशा या अज्ञान अवस्था में किसी पापाचरण पर कैसा कुछ पश्चात्ताप और अफसोस करते हैं। इसीलिये धर्म-शास्त्रप्रणेता या नीतिप्रवर्त्तकों ने विश्वास की जड़ को और पुष्ट किया है, बल्कि गीता में तो यहाँ तक दिया है कि—

योषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।
जानन्नपि हि मेधावी जड़वल्लोक आचरेत्॥

जो किसी मत या सम्प्रदाय का दृढ़ विश्वासी होता है और अपने धर्मग्रन्थों को ठीक समझता है, पर दूसरे के धर्म में डाह और तअस्सुब नहीं रखता, वह अनुचित कामों से बहुत डरता है और दूसरे लोग उससे की हुई बातों का बड़ा भरोसा रखते हैं। इसी से पुराने राजा लोग अच्छे धर्मशील तपस्वी विद्वानों को ढूंढ़-ढूंढ़ कर यथोचित न्याय करने के लिये धर्मासिन पर नियत करते थे और उन्हीं को प्राड़विपाक बताते थे।

तात्पर्य यह कि राजा में जो प्रजारंजन का एक विशेष गुण होना चाहिये, वह उनमें था—जो मनुष्य अपने मत और संप्रदाय के अनुकूल होगा वह अवश्य सब जीवों पर दयादृष्टि रक्खेगा, परलोक और ईश्वर का भय मन में रख पापकर्म करने से हिचकेगा और जो मनुष्य अपने यहाँ की धर्म-प्रणाली छोड़ बैठेगा, वह स्वच्छन्द विचरेगा, इधर-उधर चक्कर लगावेगा। इहलोक और परलोक के भय से शून्य होगा; चाहे वह सकल विद्या पारंगत क्यों न हो।

तात्पर्य यह कि जिसने धर्म की मर्यादा को फूँका-तापा वह इन्साफ की गरदन पर छुरी फेरते काहे को हिचकेगा तथा प्रजा की लाभ-हानि अपने स्वार्थ के मुकाबले कब देखेगा; क्योंकि जब ईश्वर न रहा, न पुण्य-पाप कोई वस्तु है, न परलोक या पुनर्जन्म है, तब फिर क्या? चावार्क का मत रुई है—

ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्
यावज्जीवेत्सुखंजीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

"Eat drink be merry this is golden rule"

मरने के पीछे जब कुछ हई नहीं, तब क्यों भाँति-भाँति की परहेजगारी और संयम में हलाकान हो जिन्दगी का मजा न लूटें?

इन अविश्वासियों के फिरके में एक "मॉरलिस्ट" होते हैं, अर्थात् समाज में दूषित चरित्र न कहलाये जायँ, इसलिए हमारी "कानशन्स"

विचारशक्ति क्या कम है। हम सकल साइन्स और फिलॉसफी चाट बैठें है, तमाम इल्म और हिकमत हमारी मूठी में है। वह कब काम आवेगा, जो हम साधारण लोगों की भाँति मजहब और धर्म पर विश्वास रख अनेक तरह के वेहूदा "असंप्शन" अनुमान मान बैठे कि बिहिश्त और दोजख अलग-अलग बने हुए हैं। बिहिश्त में अल्ला मियाँ राज करते हैं, जिनकी चितवन में ऐसा असर है कि पुण्यात्मा को वह चितवन अमृतरूप और चिरस्थायी मुक्ति-पद प्रदान करती है। वही पापात्मा गुनहगार की ओर जहाँ आँख उठा के देखा कि वह जहन्नुम की आग में जल-भुन खाक हो गया इत्यादि।

धर्म या मजहब की जड़ केवल विश्वास है, इसी पर ईश्वर का अस्तित्व निर्भर है; क्योंकि विश्वास बिना रक्खे जो कुछ किया जाय, वह न करने के तुल्य है, इसलिये कि यह पहली सीढ़ी है। विश्वास होने पर भक्ति या श्रद्धा का दर्जा आता है। इसी से गीता में भगवान् ने कहा है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत् प्रेत्य नो इह॥

बिना श्रद्धा के जो हवन किया गया, दान किया गया, तपस्या की गई या जो कुछ किया गया, वह न करने के बराबर है, न उसका फल इस लोक में है न परलोक में। परलोक के लिये तो किसी तरह पर नहीं है, इस लोक में कभी की तारीफ हासिल करने को दंभ मात्र के लिये है।

लिखा है—"भावेषु विद्यते देवो तस्माद् भावोहि कारणम्॥"

भाव, अर्थात् विश्वास में देवता रहते हैं, इससे विश्वास ही प्रधान है; कहावत भी ऐसी ही प्रचलित है—"मानों तो देव नहीं पत्थर।" सच्चा विश्वास, जिसे एतकाद कहेंगे, अब इस समय हम देखते हैं तो बहुत कम हो गया है और ज्यों-ज्यों तालीम का जोर बढ़ता जायगा, सच्चा विश्वास उच्छिन्न होता चला जायगा। केवल दंभ और आडंबर बच रहा, सो भी कहीं-कहीं और किसी-किसी में। यही कारण है कि आजकल के संशोधक

रूखी तबियतवाले, जिनमें प्रेम और भक्ति का कहीं स्पर्श भी नहीं है, उन्हें चिरकाल का प्रचलित वर्तमान हिन्दू-धर्म सब ओर से दंभ ही दंभ जँचता है। कदाचित् ऐसा हो भी, क्योंकि मजहब के साथ मक्कारी ने अपना घनिष्ठ संबंध जोड़ रक्खा है; पर धर्म संबंधी सब दंभ ही दंभ है—हम ऐसा कभी न मानेंगे, बल्कि उन्हीं संशोधकों का थोड़ा दोष है, जिनमें भक्ति का किंचित् भी लगाव नहीं है।

कृष्ण, चैतन्य महाप्रभु, नानक और कबीर आदि पुराने संशोधकों और इस समय के संशोधकों में यही बड़ा अन्तर आ गया है। पुराने संशोधक भक्ति, श्रद्धा, प्रेम और विश्वास से पूर्ण थे। जो कुछ उन्होंने किया, उसमें पूर्णतया कृतकार्य हुए। कृष्णचैतन्य ने संपूर्ण बंगाल को अपना अनुयायी कर डाला; गुरूनानक देव ने पंजाब भर को अपना चेला मूड़ लिया; वल्लभाचार्य ने गुजरात को अपना कर डाला; रामानुज स्वामी ने मन्द-राज में अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर दिखाया। इन दिनों संशोधक गला फाड़-फाड़ गली-गली चिल्लाते फिरते हैं, पर उनके कहने का किसी पर कुछ असर नहीं होता; इसलिये कि ये रूखे वैज्ञानिक बन भक्ति, श्रद्धा और सच्चे विश्वास को अपने में नहीं आने देते। अन्तर्यामी परमात्मा तो सबों की चित्तवृत्ति पहिचानता है, इसलिये वह उनको अपने उद्यम में यथोचित कृतकार्य नहीं करता।

इन दिनों झूठा विश्वास False belief चल पड़ा है, सभ्य समाज वाले अपढ़ मूर्खों को किसी धर्म-सम्बन्धी कार्य में लगे हुए देख उनके विश्वास को 'फाल्स बिलीफ' कह उन्हें हँसते हैं, पर हम कहते हैं, विश्वास ऐसी चीज है कि वह झूठा हो ही नहीं सकता। जिन्हें विश्वास हई नहीं, उनसे उनका झूठा विश्वास भी भला, बल्कि यों कहिये जिस पर जिसका विश्वास जम गया, उनको वह विश्वास ही तदाकार हो भावनानुकूल फल देता है। इसी से कहा है—"विश्वासः फलदायकः।" जो कुछ हो, अब इस समय हम देखते हैं तो विश्वास की जड़ बहुत कट रही है, जिसका परिणाम सोचते हैं, तो बडा भयंकर जान पडता है। आस्तिक्य बद्धि, ईश्वर में प्रीति

यह सब बातें बड़े कल्याण की हैं, न जानिये क्यों हमारे सुसभ्यों को इधर से अरुचि है; बड़े लोग हैं कुछ समझे होंगे; हम अपनी ओछी अल्प बुद्धि को कहाँ तक पछतायें, जो जेठऊ तरबूज से उनके भारी और पैने दिमाग के साथ नहीं मिल बजती।

जनवरी, १८९६

तर्क और विश्वास

तर्क और विश्वास दोनों संसार के चलाने की ऐसी अद्भुत शक्तियाँ हैं कि जिनके न रहने से मनुष्य के मनुष्यत्व में अन्तर पड़ जाता है। जब तक आदमी का होशहवास दुरुस्त है, तब तक तर्क और विश्वास दोनों भरपूर काम देते हैं। विक्षिप्त या पागल में ये दोनों रहते तो हैं; परन्तु इनका प्रयोग यथावत् पागल मनुष्य नहीं कर सकता।

अब इन दोनों के यथावत् काम देने पर विचार होता है कि इन दोनों का आपस में क्या सम्बन्ध है। कर्म-इन्द्रियाँ अर्थात् हाथ-पांव आदि के द्वारा इनके सम्बन्ध का ज्ञान किसी तरह हो ही नहीं सकता, क्योंकि इनके सम्बन्ध का ज्ञान-स्थल इन्द्रियों से कोई सरोकार नहीं रखता। अब रहीं ज्ञान-इन्द्रियाँ, उनमें तर्क बुद्धि का धर्म है और तर्क अहंकार की विविध शक्तियों में एक शक्ति है। जब किसी स्थूल वा सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान, कर्म या ज्ञान-इन्द्रियों से मन के द्वारा अहंकार को होता है, तब बुद्धि अपनी तर्कना-शक्ति से निश्चय करती है कि यह ज्ञान वास्तव में सत्य है या झूठ। सच-झूठ के निश्चय के उपरान्त अहंकार उस पर विश्वास लाता है। इससे प्रकट हुआ, तर्क और विश्वास में सेवक स्वामी का-सा सम्बन्ध है।

अब प्रश्न उठ सकता है कि जब दोनों में इस प्रकार का सम्बन्ध है, तो संसार के मनुष्यों के तर्क और विश्वास में क्यों इस तरह का अन्तराय है, उचित था कि सम्पूर्ण मनुष्यमात्र का एक-सा विश्वास होता। इसका सुगम उत्तर यह है, जिसे हर एक मनुष्य थोड़े ही परिश्रम में जान सकते हैं; पक्षपात छोड़ वादी के तर्क करने के तरीके को देखें और तब उससे अपना अनुमान निकालें। ऐसा करने से जल्द प्रकट हो जायगा कि संसार के सब मनुष्य क्यों एक विश्वास के नहीं होते।

कारण इसका यह है कि सब लोग एक ही तरह का तर्क नहीं करते

बल्कि लोगों के तर्क करने का प्रकार भिन्न-भिन्न है। एक प्रकार के तर्क करनेवाले वे हैं, जो तर्क करने में ऐसे आलसी होते हैं कि अपनी बुद्धि को थोड़ा भी परिश्रम नहीं दिया चाहते, अपने गुरु या बड़े लोगों के किये हुए तर्क पर जल्द विश्वास कर लेते हैं। ऐसे मनुष्यों की तर्क करने की शक्ति प्रतिदिन कुण्ठित होती जाती है। ऐसों का विश्वास वही रहेगा, जैसा उनके बाप-दादों के समय से चला आता है। बाप-दादों का विश्वास चाहे कैसा ही पोच हो ; पर वे लकीर के फकीर बने ही रहेंगे। ऐसे लोगों से यदि पूछा जाय कि तुम अपनी बुद्धि को क्यों नहीं काम में लाते, तो ये पट से यही जवाब देंगे कि क्या हमारे बाप-दादे मूर्ख और नासमझ थे, क्या हम उनसे अधिक बुद्धिमान हैं। हिन्दुस्तान में तो ऐसे लोगों की इतनी अधिकाई है कि १०० में ९० से कम न होंगे ; किन्तु थोड़े या बहुत ऐसे मनुष्य तो हर एक जाति और देश में पाये जाते हैं। इसीलिये संसार में इतने तरह के अलग-अलग मत हैं और एक-एक मत में अलग-अलग बहुत-से जुदे-जुदे सम्प्रदाय हैं, जिन्हें बड़े-बड़े लोगों ने अपना-अपना मतलब गाँठने को या अपने देश की भलाई या उन्नति के लिये जुदे-जुदे देशों में जुदे-जुदे समय में फैलाये और अब तक फैलाते जाते हैं। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के इस आजादगी के जमाने में अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से अब उन भिन्न-भिन्न मत, धर्म या सम्प्रदायों की कोई आवश्यकता नहीं है।

दूसरे प्रकार के पुरुष वे हैं, जो अपने रोजमर्रा के काम में ऐसी तीखी बुद्धि रखते हैं और तर्क को इतना काम में लाते हैं कि बहुत कम लोग चालाकी बुद्धिमानी और न्यायपूर्वक विचार में उनकी बराबरी कर सकते हैं, परन्तु जब किसी ऐसे विश्वास को तर्क के द्वारा शुद्ध करने की आवश्यकता पड़ती है, तर्क के बदले क्रोध करने लगते हैं, यहाँ तक कि न अपनी बात कहते हैं, न दूसरों की सुनते हैं, क्रोध में इतना आग-बबूला हो जाते हैं कि मानों उठाकर निगल जायँगे और यही समझते हैं कि यह हमारा गुस्सा ही तर्क का पूरा काम दे देगा और हमारे विश्वास की पुष्टता हो गई ; पर ऐसे काम के लिये बड़ा चालाक आदमी चाहिये और इस तरह के चालाक

बहुत कम पाये जाते हैं। ऐसे लोगों से समाज का काम तो भरपूर निकल सकता है; परन्तु सत्य का पोषण नहीं हो सकता, इसलिये कि उनका विश्वास भी गुस्से की रंगत पकड़ लेता है।

एक प्रकार के पुरुष और भी हैं, जो सच्ची नीयत से विश्वास के पोषण में तत्पर हैं और सत्य के अन्वेषण में भी उद्यत हैं; किन्तु बुद्धि-वैभव में इतने पूर्ण नहीं हैं कि तर्क के द्वारा अपने विश्वास को सत्य के पास तक पहुँचा सकें। तर्क तो करते हैं, किन्तु उनका तर्क एकदेशीय है, इसलिये सत्य का होना पूरा निश्चय नहीं कर सकते और बिना पूरा निश्चय के जो विश्वास हो वह कच्चा विश्वास है, इत्यादि। कई प्रकार के तर्क करनेवाले यहाँ दिखलाये गये; पर सच तो यों है कि विश्वास और तर्क दोनों एक दूसरे के इतना विरुद्ध है कि तर्क विश्वास के लिये कुलाढ़ा है। विश्वास को जब तक चित्त में स्थान न दोगे, तर्क की शृंखला कभी टूटे ही गी नहीं।

जनवरी, १८९६

नीयत

नीयत अजीब चीज है और आदमियों के तमाम कामों में अच्छा या बुरा करार दिये जाने की एक ही कसौटी है। कोई काम जिसका परिणाम बुरा से बुरा है बुरा नहीं कहा जायगा, अगर उस काम को करने वाले की बुरी नीयत से नहीं किया गया, तो उसका यश करनेवाले को नहीं मिल सकता। जितने काम संसार में किये जाते हैं, जान-बूझकर किये गये हों, या भूल से किये गये हों, या उस हालत में किये गये हों, जब कि आदमी अपने होश या काबू में नहीं है, सब अवस्था में गुण या दोष की डिगरी की नियामक नीयत ही है। घिनौना से घिनौना काम बन पड़ा हो, पर नीयत उसके करने की न पाई जाती हो, तो उस काम के करने वाले को दोषी न कहेंगे। इसी तरह पर भले काम का करने वाला भी नीयत ही से भला कहा जा सकता है। इसी लिये सीधे, सच्चे मनुष्य का काम सदा अच्छा और प्रशंसा के लायक होता है। अच्छे इरादे अच्छी नीयत से जो उसने किया है, तो उसको अपने काम में सरसब्जी भी भरपूर होते देखी गई है। इसी तरह कुटिल मनुष्य, जिसका काम कुटिल इरादे से किया गया है, उसमें कामयाबी बहुत कम होते देखी जाती है। इस कारण नीयत मनुष्य के मनरूप तख्त-ताऊस पर सुशोभित उसके बाहरी कामों में जगमगाती ज्योति के साथ प्रकाशमान रहती है।

नीयत फलती है। नीयत की बरकत—सत्य की बाँधी लक्ष्मी फिर मिलैगी आय—इत्यादि कहावतों से मालूम होता है। ये उन अगाधबुद्धि गम्भीराशय लोगों के सिद्धांत हैं, जिन्होंने संसार में मनुष्य के चित्तों को खूब थहाया या समझा है। लाखों का काम चल रहा था। दैवदुर्विपाक से कोई ऐसी दुर्घटना आ पड़ी कि सब डिगमिग हो गया। कहीं कोई शरण देने वाला न रहा। व्योपारियों में एक पैसे की मातबरी न रही, बुरे दिन ने अंधड़ के समान सब ओर से आ घेरा। जितना कारण था, सब डिगमिगा

गया ; पर नीयत में डिगमिगाहट न आई, शुद्ध बनी रही। मालमता व जरजेवर जो कुछ पास था, सब का निकास कर यह पुरुषसिंह धीरज न छोड़ नीयत शुद्ध रख उस अँधड़ का मुकाबिला बराबर करता गया। थोड़े ही समय में कौड़ी-कौड़ी सबका चुकता कर दिया। बात बनी रही, मुँह उजागर रहा—

सत्य की बाँधी लक्ष्मी बहुर मिलैंगी आय।

इस सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए दयालु परमेश्वर ने इसके नीयत की कसौटी के उपरान्त फिर सब बात पहले के समान कर दी। जो उस बिगड़े समय इसकी हवा बरकाते थे, इससे बात करना महापाप समझते थे, वे ही अब आकर खुन्नस बजाने लगे। कवि की इस उक्ति का "नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रेनमिक्रमेण" पूरा दृष्टान्त मिल गया। यह अद्भुत बात है कि यद्यपि नीयत एक ऐसी बात है, जिसका पता लगाना बड़ा कठिन है ; पर जिस तरह कस्तूरी की महक छिपाये नहीं छिपती, उसी तरह आदमी के छिपे से छिपे गुण-अवगुण भी बिना प्रकाश हुए नहीं रह सकते। जिसकी नीयत शुद्ध है, उस पर न समाज अंगुश्तनुमाई कर सकता है, न अदालत सख्ती करेगी। इतना ही नहीं, वरन् समाज और अदालत दोनों की ओर से उस पर रहम की जाती है। बल्कि, अदालत में "क्रिमिनल ला" फौजदारी के कानून इस नीयत ही की बुनियाद पर गढ़े गये हैं। सख्त से सख्त जुर्म ख़ून के मुकद्दमे में भी बहुधा नीयत ही पर फैसला होता है। किसी को थोड़े में बहुत यश मिलता है, किसी को बहुत में भी थोड़ा-सा। यह सब नीयत ही का फल है। जिनकी नीयत बुराई करने को होती है, उन्हें बिना किये ही उसका अयश मिल जाता है।

बुद्धिमान् लोग, जिन्हें हर तरह की सोहबत में रहने का मौका मिला है और जो हर तरह की बातों के अनुभव में एकता हैं, सूरत देखकर या संभाषणमात्र से नीयत को परख लेते हैं। व्योपार में केवल नीयत की बरकत रहती है, जिससे सूत का बाँधा हाथी चलता है। हमारे देश की महाजनी में साख और है क्या? यही नीयत, जो जरा भी डिगमिगानी कि साख

कोसों दूर हटी। हुंडी पुरजा बन्द कर दिया गया, दीवालिये बैठे-बैठे सिर खुजलाया करें और मक्खी मारते रहें। व्योपार में जो हम नीयत के चरखे को बार-बार ओटते हैं, उसका कारण यही है कि इसमें जैसी जल्दी नीयत फलती है, वैसी और किसी काम में नहीं। बाप-दादा आदि मूसिआला की नीयत यद्यपि औलाद पर उतरती है; पर वैसी जल्दी नहीं जैसा व्योपार में। मनु का वाक्य भी है—

यदि नात्मनि पुत्रेषु नच पौत्रेषु नप्तृषु।
नत्वेवं तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति चान्यथा॥

जनवरी, १८९३

जबान

कहने को मनुष्य के शरीर में ५ इन्द्रियाँ है और यह पुतला उन्हीं ५ कर्मेन्द्रियों का बना है; किन्तु उन-उन इन्द्रियों का प्राबल्य केवल अपने विषय में है, अपना विषय छोड़ दूसरे के विषय में वे कुछ अधिकार नहीं रखतीं, जैसे कर्णेन्द्रिय का अधिकार शब्द पर है, तो कान को रूप से जो नेत्र का विषय है, कुछ सरोकार नहीं है। ऐसे ही नेत्र को त्वगिन्द्रिय से, जिसका अधिकार स्पर्श पर है, कुछ सरोकार नहीं है। कड़ी वस्तु देख नेत्र को न कुछ दुःख मिलता है न मुलायम को देख कुछ सुख। नासिका का विषय सुगन्धि-दुर्गन्धि है, शेष चार—शब्द, स्पर्श, रूप, रस से नासिका को कोई प्रयोजन नहीं है।

पर जबान सब इन्द्रियों में इतनी प्रबल है कि यह जायका लेने के समय सिवाय रस के, जो इसका प्रधान विषय है—शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध—सबों को अपने साथ समेटती है। भोजन के समय जरा भी दुर्गन्धि हो, या खाना जिसे हम खा रहे हैं, गन्धाता हो, कभी न खाया जायगा। खाने की कौन कहे, मिचलाई आने लगेगी। जो पेट में है वह भी बाहर निकल पड़ेगा। उनकी तो बात ही निराली है, जिन्हें दुर्गन्धि ही सुगन्धित है। हमारे साहबान अँगरेजों के साफ और सुथरे दस्तरखान पर चमाचम रकाबियों में जब तक महीनों की सड़ी माँस या मछली और पनीर न रक्खी हो, तब तक लज्जत और जायका नहीं, जिसकी झझक पाय दूर ही से नाक सड़ती है। जितनी ही जियादह झझक हो, उतना ही जियादह जायका! किन्तु सफाई को इतना अधिक अधिकार दिया गया है कि होटलिये हिन्दुस्तानी भाई भी उसी सफाई पर मोहित हो, साहबों की जूठी रकाबियों पर मक्खी सा जा टूटते हैं। इलायची, केवड़ा, केसर आदि सुगन्धित द्रव्य इसी प्रयोजन से भोजन के पदार्थों में मिलाये जाते हैं, जिससे उसमें सुगन्धि आ

जाय, और सुगन्धित भोजन मामूली भोजन से सवाया अधिक खाया जाता है।

अब दूसरी बात—नेत्र को जिह्वा से क्या सरोकार है ? साफ और स्वच्छ पदार्थ देखते ही जीभ से पानी टपकने लगता है। स्वादिष्ट भोजन कसीफ और मैला हो, तो भाव दुष्ट होने से चित्त उस पर इतना नहीं लहालोट होता, जितना साफ और स्वच्छ पदार्थ पर, जो नेत्र को भावता हो। इसी तरह स्पर्श-सुख का सूक्ष्म अनुभव, जैसा जीभ कर सकती है, वैसा शरीर के दूसरे हिस्से नहीं कर सकते। इसी से जीभ का 'रसना' यह नाम सब भाँति सार्थक है। ईश्वर न करे, रसना किसी की रस के अनुभव में तेज और चोखी हो। चटोरी जीभ लाखों रुपया चाट बैठती है और हविस उसकी नहीं बुझती। न जाने कितने लोग केवल चटोरी जीभ के कारण लाख का घर खाक में मिलाय सब चाट बैठे। जुआ, शराब, ऐयाशी, चटोरापन—इन चारों ऐबों में किसी एक का हो जाना बरबादी के छोर तक पहुँचाने के लिये काफी है। दैव के कोप से जिनमें चारों हैं, उनकी सपूती और लियाकत का भला क्या कहना है।

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितेन्द्रियकः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावत् जितं सर्वं जिते रसे॥

तब तक मनुष्य जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, चाहे और सब इन्द्रियों को वश में कर भी लिया हो, जब तक रसना को अपने वश में नहीं किया। एक जिह्वा को काबू में रखकर बाकी और इन्द्रियाँ काबू में आ सकती हैं। और भी—

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥

चटोरी जीभ के कारण मनुष्य मूढ़ बन मछली के समान जिह्वा के वश में पड़ नष्ट हो जाता है।

जितने खाद्य पदार्थ हैं, उनका स्वाद या जायका जिह्वा के अग्रभाग

से क्षण भर के संयोग का है, गले के नीचे उतरा कि स्वादिष्ट और बेलज्जत भोजन दोनों एक से हैं।

आस्वाद्यस्य हि सर्वस्य जिह्वाग्रे क्षणसंगमः।
कण्ठनाडीमतीतं च सर्वं कदशनं समम्॥

केवल स्वाद चखना जीभ का फायदा हो, सो नहीं, वरन् शरीर के और-और अंग की अपेक्षा इसके गुण या दोष भी सबसे अधिक प्रबल हैं। बड़े से बड़ा फायदा और बड़े से बड़ा नुकसान दोनों इसके द्वारा हो सकते हैं। गाँठ का एक पैसा भी बिना गँवाये मीठी जबान लाखों का फायदा सहज में कर सकती है—

कागा का को धन हरै कोयल का को देय।
मीठो वचन सुनाय के यश अपनो कर लेय॥

नुकसान भी आदमी कड़ुई या बदजबानी से इतना उठाता है कि सब उमदा सिफतों के होते भी लोग कटुभाषी या बदजबान के पास जाते हिचकते हैं। कटहा कुत्ता-सा वह सबों से बरकाया जाता है। जबान को समस्त सभ्यता और शाइस्तगी का सारांश कहना अनुचित नहीं है। अब तक जो कुछ तरक्की संसार में हुई है, उसका द्वार जबान ही है। इन्सान और हैवान में यही अन्तर है कि जानवर हम लोगों की तरह अपने खयाल जबान से कहकर नहीं अदा कर सकते, नहीं तो और सब इन्द्रियों के लालन-पालन में—आहार निद्रा भय मैथुन आदि के द्वारा—पशु और मनुष्य की समता होने में कौन-सा अन्तर बच रहा। लिख कर अक्षरबद्ध रख छोड़ने का क्रम तो बहुत दिनों के बाद निकला। प्रारम्भ में जबान से कहना और कान से सुन उसे याद रखना ही बहुत दिनों तक जारी रहा। ज्यों-ज्यों लोग अधिक सभ्य होते गये, हिन्दी की चिन्दी निकालने लगे। तब ये ही जो सूत्र जबान से कहे गये, उन पर भाष्य शरह और कमेंटरी होती गई और उन्हें बृहत् होने के कारण स्मरण-शक्ति के बाहर समझ लोगों ने संकेत के ढंग पर अक्षर निकाले और लिखकर रख छोडने लगे।

तात्पर्य यह कि यावत् विद्या और ज्ञान पहले जिह्वा से कह कर प्रकट न किये गये होते, तो केवल लेख-शक्ति से कुछ न होता, न हमारी सभ्यता इस छोर तक पहुँचती। जबान को दबाना क्रोध को दबा रखने का एक ही उपाय है। कई बार की आजमाई हुई बात है कि कैसा ही क्रोध आया हो, चिल्लाने के एवज धीरे-धीरे बोलो, क्रोध क्रम-क्रम आप ही शान्त हो जायगा। जीभ समाज को कहाँ तक लाभदायक हुई सो दिखला चुके।

अब धर्म-सम्बन्ध में जिह्वा पर लगाम रखने की कितनी आवश्यकता है, सो दिखलाते हैं। सच तो यों है कि जीभ पर बिना कोड़ा रक्खे धर्मिष्ठों को धर्मधुरन्धर बनने का दावा करना सर्वथा व्यर्थ है। वह अवश्य धोखे में पड़ा है, जो अपने को धर्मिष्ठ तो मानता है ; पर जीभ को अपने काबू में नहीं किया। झूठ बोलना, झूठी गवाही देना, चुगली, बदगोई इत्यादि से बचना ही जीभ पर लगाम नहीं कहलावेगा, क्योंकि झूठी गवाही चुगली गाली इत्यादि बड़े-बड़े पापों का विषय निराला है। कानूनी फौजदारी "क्रिमिनल ला" की मद्द में उसकी गिनती है और सरकार की ओर से उसके लिये दण्ड नियत है। जिस पर जान-बूझकर शामत सवार होगी, वही ऐसे-ऐसे अपराधों में अपने को फँसाय कैद और जुरमाने का सजावार बनावेगा।

बल्कि जबान में लगाम से प्रयोजन गप्पी और वाचाल का है, जिसे अपनी गपाष्टक के समय आगे-पीछे का कुछ खयाल नहीं रहता, न अपनी या पराये की हानि-लाभ का। जिनको गप्प हाँकने की आदत हो गई है, वे इसे अपने लिये दिल-बहलाव मानते हैं, इसमें किसी तरह ऐब या पाप नहीं समझते और जब उनके गप्प का विषय चुक जाता है, कोई बात नहीं रहती, जिस पर वे अपने गप्प को काम में लावें, तब वे कुछ ऐसी कल्पना किया करते हैं, जिससे दूसरों को बदनाम करैं, जीट उड़ावैं, किसी का कुछ कलंक उद्घाटन करैं, इत्यादि। चुप उनसे नहीं रहा जाता, कुछ कहना अवश्य—

मुखमस्ति च वक्तव्यं शतहस्ता हरीतकी।

मुख में जीभ ईश्वर ने दी है, तो कुछ कहना चाहिये। हाँ सुनिये, सौ हाथ की हरें—ऐसे लोग जिन्हें बहुत बकने का अभ्यास हो गया है, अपनी बकवाद की जोश में वह बात कह डालते हैं, जो न कहना चाहिए, या जिसे कहकर वे पीछे पछताते हैं। यहाँ तक बेफायदा बकवाद उन्हें पसन्द आती है कि जब तक मन मानता बक न लें, अघायेंगे नहीं, जैसा स्त्रियों में बहुधा ऐसी होती हैं कि २४ घण्टे में कम से कम ६ घण्टे लड़ न लेंगी, उन्हें अन्न न पचेगा। नवाबों में किस्सेगो इस किस्म के रहते थे कि दिन भर कहो बकते रहैं, उनके किस्से की लर न टूटैं। चण्डूखाने में चण्डूबाजों की गप्प मशहूर हुई है। इन बकवादियों की भी कई किस्में हैं। कितने तो ऐसे हैं कि उनकी चाहे कोई सुनै या न सुनै, उनको बक जाने से काम। कितने ऐसे हैं कि उनकी बक-बक का किसी ने निरादर किया कि उन्हें क्रोध आ जाता है, बिगड़ खड़े होते हैं। कितने ऐसे होते हैं कि अपनी बकवाद को रंगीन और दिलचस्प न समझ सुननेवाले को नापसन्दीदा जान चट्ट उसमें कुछ ऐसा ईजाद कर देते हैं कि थोड़ी देर के लिये सबों का ध्यान उस ओर मुखातिब हो जाता है। इसे वे एक हुनर मानते हैं और इस ढंग से बात करते हैं कि उनकी सरासर झूठ बात सब लोग सच मान लेते हैं।

जीभ को न दबाना अनेक बुराई और क्लेश का कारण है। महाभारत-ऐसा सर्वनाशी संग्राम, इसी जीभ के न दबाने की बदौलत किया गया। द्रौपदी ने यदि दुर्योधन को 'अन्धे के अन्धे' होते हैं इस मर्मवेधी वाक्य को कह मर्म-ताड़न न किया होता और दुर्योधन को पाण्डवों से खार न पैदा हुई होती, तो परिणाम में १८ अक्षौहिणी सेना काहे को कट मरती, जिसका धक्का जो हिन्दुस्तान को लगा, बल्कि जैसा भारी घाव इसके शरीर में हो गया, उसकी मरहमपट्टी आज तक न हो सकी। इन्हीं सब कारणों से सिद्ध हुआ, मनुष्य अपनी जीभ पर जहाँ तक चौकसी कर सके और उसको दबा सके, दबावैं। इस पर चौकसी रखने से अनेक भलाइयाँ हैं और स्वच्छन्द कर देने से सब तरह की बुराइयों की सम्भावना है।

जीभ को दबाना और चौकसी रखने से यह प्रयोजन नहीं है कि हम

सर्वथा मूकभाव धारण कर लें, किन्तु चुप रहने के भी मौके हैं। विद्यावृद्ध, वयोवृद्ध या संसार की अनेक ऊँची-नीची बातों के अनुभव में जो अपने से अधिक हैं, उनके सामने शालीनता के ख्याल से चुप रहना होता है, जिसमें यह कोई न समझे कि यह छोटे मुँह बड़ी बात कह रहा है। बहुत बकने-वालों में कितने ऐसे हैं कि घंटों तक बक जाते हैं, पर उनके बात करने का खास मतलब क्या था, कुछ समझ में नहीं आता। इस तरह पर बात करनेवालों की कई किस्में हम यहीं पर गिना सकते हैं। एक वे हैं कि हँसते जाते हैं, बात करते जाते हैं—"हसन्नमूर्खः", "हसन्नजल्पे" इत्यादि वाक्य साक्षी हैं कि बात करने का यह क्रम मूर्खता की पहचान है। एक सखुनतकिया वाले होते हैं। दस लफ्ज का एक जुमला होगा, तो ५ लफ्ज उसमें तकिया-कलाम के होंगे। इनमें जिन्हें गाली की सखुनतकिया पड़ जाती है, उनकी घिनौनी बात कान को महा असह्य मालूम होती है। एक वज्र-भाषी होते हैं। बात उनके मुख से क्या निकलती मानो गाज गिरा। ऐसों की आदत होती है कि जहाँ कोई बात बनती हो, तो ये वहाँ पहुँच उसे बिगाड़ देने में कसर न करेंगे।

अतीव रोषः कटुका च वाणी नरस्य चिह्नं नरकागतस्य।

उनकी वज्र-भाषी कटुवाणी इस बात का चिह्न है कि वे नरक झेल कर आये हैं और मरकर फिर नरक में जायँगे। इसी के विरुद्ध एक ऐसे भी सुकृती जन हैं, जो अपनी मीठी बोली से मन खींच लेते हैं। धन्य हैं वे स्वर्गगामी जन—इत्यादि जिह्वा के सम्बन्ध में जो कुछ वक्तव्य था, हमने सब कह सुनाया।

जुलाई, १८९५

उपमा

उपमा एक ऐसा अलंकार है, जिसकी उपयोगिता न केवल पढ़े-लिखे लोगों को होती है, वरन् हमारी नित्य की साधारण बातचीत में भी बिना उपमा के काम नहीं चलता। उच्चश्रेणी के लोग, जिन्हें हम विदग्ध नागरिक या तरबियत याफ्ता कहते हैं, उनके बीच तो इस उपमा की बड़ी-बड़ी बारीकियाँ निकाली गई हैं; किन्तु ग्रामीण और घरेलू बोलचाल में भी इसका अनुक्षण प्रयोग किया जाता है ; जैसे—"तोर बेटौना साँड़"—"लम्बा जैसा खजूर"—"पतला जैसा बाल" इत्यादि अँगरेजी में इस प्रकार के कथन को 'सिमिली' कहते हैं और यह साहित्य की पहली सीढ़ी है। हमारे यहाँ के साहित्य के एकमात्र आधार और साहित्यार्णव-कर्णधार विद्वानों ने इस उपमा की कहाँ तक छान की है, आज हम उसी के संबंध में कुछ लिखना चाहते हैं।

दण्डी आचार्य का मत है—

यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते।

उपमा नाम सा—किसी के वर्णन में जहाँ वर्णनीय की उत्कर्षता और वर्णन में चमत्कार पैदा करने वाला किसी प्रकार का सादृश्य दिखाया जाय, वह उपमा है। रस गंगाधर में जगन्नाथ पंडितराज का मत है—

सादृश्यं सुन्दरं वाक्यमर्थोपस्कारकारकं उपमा।

सौन्दर्य अर्थात् चमत्कृति, जिससे चित्त में एक प्रकार का आनन्द विशेष पैदा हो उठे, ऐसा जो उपस्कृत वाक्य या अर्थ है, वह उपमा है। सादृश्य धर्म गुण और क्रिया से लिया जाता है।

हंसी व धवलाकीर्ति।

आपकी कीर्ति हंसी के समान धवल है। यहाँ दोनों में सामान्य गुण धवलता में सादश्य दिखाया गया है।

अंभोरुहमिवताम्रं मुग्धे करतलं तव

मुग्धे, तेरा हाथ कमल के समान ताम्रवर्ण है। यहाँ कमल और नायिका के हाथ की ललाई साधारण धर्म में सादृश्य है।

सलीलमिदमायाति वधूर्गजवधूमिव

यह वधू गज-वधू (हथिनी) की-सी अठखेली चाल से चली आ रही है। यहाँ आना इस क्रिया में सादृश्य है।

आकाशःकाशतेऽत्यर्थं शिववद्विधुभूषण

चन्द्रमा से भूषित आकाश शिव के समान शोभा दे रहा है। यहाँ विधु रूप द्रव्य से सादृश्य पाया जाता है।

कभी प्रसिद्ध बात को विपर्यय उलट कर उपमा दिखाई जाती है, इसे विपर्यासोपमा कहते हैं। "**तवानन मिबोन्निद्रमरविन्दमभूदिदं**" तेरे मुख के समान खिला हुआ अरविन्द था। यहाँ खिलना धर्म पुष्प का है, जो अरविन्द (कमल) में होता है, सो मुख में माना गया यह विपर्यय है। विश्वनाथ का मत है कि यह उपमा से अलग प्रतीप नाम का एक दूसरा ही अलंकार है, अर्थात् जो उपमान है उसे उपमेय बना देना, जैसे—"**त्वल्लोचनसमं पद्म त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः** तेरे लोचन के समान पद्म है और तेरे मुख के समान चन्द्रमा है। नेत्र की उपमा कमल से और मुख की उपमा चन्द्रमा से बहुधा दी जाती है, सो यहाँ उलटा किया गया। और भी—

"**यत्त्वन्नेत्र समानकान्तिसलिले मग्नं तदिन्दीवरं, मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी। येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्तेराजहंसा गतास्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥**"

रामचन्द्र सीता के वियोग में कहते हैं—प्रिये, तुम्हारे नेत्र की कान्ति के समान कान्ति रखने वाले जो कमल थे, सो इस वर्षाऋतु के आ जाने से पानी में डूब गये। तुम्हारे मुख की छाया का अनुहार करनेवाले चन्द्रमा को बादलों ने आकर छिपा लिया। जो तुम्हारी-सी चाल का अनुकरण

करनेवाले हंस थे, वे भी मानसरोवर को चले आये। अस्तु, तुम्हारे वियोग में जिस वस्तु में तुम्हारा कुछ भी सादृश्य था, उसी से ही हम अपना जी बहलाते थे। दैव प्रतिकूल हो उसे भी न देख सका।

एक अन्योन्य उपमा है—**"तवाननमिवोन्निद्रम्भोजमिव ते मुखम्"** तेरे मुख के समान कमल खिला है और कमल के समान तेरा मुख। अन्यच्च **"गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपम्। रामरावणयोर्युद्धं रामरावण-योरिव"**। आकाश की उपमा आकाश ही है। समुद्र के बराबर का समुद्र ही है। राम और रावण का युद्ध राम रावण के युद्ध ही की उपमा हो सकता है। और भी—**"गिरिरिव गजराजोऽयं गजराजइवोच्चकै विभातिगिरः। निर्झर इव मदधाराबदधारेवास्य निर्झरः स्रवति)** ऊँचाई में यह हाथी पहाड़-सा है और यह पहाड़ हाथी-सा ऊँचा देख पड़ता है। झरने के समान इसके मद की धारा बह रही है। इस पहाड़ से झरने हाथी के मद-से वह रहे हैं। चन्द्रालोक में इस प्रकार की उपमा को अन्वय-अलंकार कहा है। **उत्प्रेक्षितोपमा—"मय्येवास्या मुखश्रीरित्यलमिन्दोर्विकत्थनै पद्मेऽपि सायद-सत्येवेत्यसावुत्प्रेक्षितोपमा।"** मेरे ही में उसके मुख की शोभा है, चन्द्रमा यह तेरा घमण्ड करना व्यर्थ है, क्योंकि वह कमल में भी है। इस उपमा को उत्प्रेक्षितोपमा कहते हैं। **"किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि किन्ते लोलेक्षणं मुखम्"** चंचल कटाक्ष-युक्त यह तेरा मुख है या भ्रमर को भीतर छिपाये हुए कमल का पुष्प है। यहाँ अन्तभ्रान्तालि का सादृश्य काली पुतली से है।

"पद्मं बहुरजश्चन्द्रः क्षयोताभ्यां तवाननम्। समानमपि सोत्सेक मितिनिन्दोपमास्मृता" पद्म और चन्द्रमा तेरे मुख के समान तो हैं; पर पद्म में रज अर्थात् धूलि जो फूलों में साधारण रीति पर रहती ही है और चन्द्रमा क्षयी अर्थात् घटा-बढ़ा करता है, इससे निन्दा के योग्य है और तेरे मुख में पूर्वोक्त कोई दोष न होने से सर्वथा तेरा मुख अनिन्दनीय है। इसे निन्दो-पमा कहते हैं।

"ब्रह्मणोप्युद्भवः पद्मश्चन्द्रः शम्भुशिरोतधृतः। तौ तुल्यौ त्वन्मुखे नेति सा प्रशंसोपमोच्यते" पद्म जिससे ब्रह्मा पैदा हुए हैं और चन्द्रमा जिनको

महादेव ने अपने सिर पर धारण किया है, सो तेरे मुख के सदृश हैं, तो तेरे मुख की कहाँ तक प्रशंसा की जाय।—इसे प्रशंसोपमा कहते हैं।

शतपत्रं शरच्चन्द्रस्त्वदाननमितित्रयं। परस्पर विरोधीति सा विरोधोपमा मता।

कमल, शरत् की पूनो का चाँद और तेरा मुख ये तीनों परस्पर एक दूसरे के साथ होड़ करते हुए आपस में एक दूसरे के विरोधी हैं।—इसे विरोधोपमा कहते हैं।

नजातु शक्तिरिन्दोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुं। कलंकिनो जड़स्येति प्रतिषेधोपमैवसा।

कलंकी और जड़ चन्द्रमा की तेरे मुख के साथ होड़ करने की भला क्या सामर्थ्य है।—इसे प्रतिषेधोपमा कहते हैं।

आकर्ण्य सरोजाक्षि वचनीयमिदं भुवि। शशांकस्तव वक्त्रेण पामरैरूपमीयते।

हे कमल के समान नेत्रवाली, इस बात को सुनकर कि पामर लोग गव धान बारह पसेरी के हिसाब पर चन्द्रमा को तेरे मुख के साथ बराबर करते हैं। इससे भी वही पहले कही हुई बातों का सब तात्पर्य है।

(न पद्म मुखमेवेदं न भृंगौचक्षुषोइमे) यहाँ यह पद्म नहीं; किन्तु मुख है। यह भृङ्ग नहीं, वरन् नेत्र हैं। सत्य बात को बतला कर संदेह दूर करता है, इससे इसका नाम—तत्त्वाख्यान उपमा है।

कान्त्या चंद्रमसं धाम्ना सूर्यधैर्येण चार्णवं। राजन्ननुकरोषीति सैष हेतूपमा मता।

हे राजा, तुम शरीर की कान्ति के कारण चन्द्रमा का तेज और प्रताप के कारण सूर्य का और गम्भीरता के कारण समुद्र का अनुकरण करते हो।—इसे हेतूपमा या कारणोपमा कहते हैं।

(बालेवोद्यान मालेयं साल कानन शोभिनी) सालवृक्ष के (कानन) वन से शोभायमान दूसरे पक्ष में अलक सहित (आनन) मुख से शोभायमान

यह (उद्यानमाला) वन परम्परा (बाला) स्त्री के समान सोहती है। इसे समानोपमा या सहोपमा कहते हैं।

एक ही उपमा के जहाँ बहुत से उपमान हों, वह मालोपमा है; जैसे—

वारिजेनेव सरसी शशिनेव निशीथिनी। यौवनेनेव वनिता नयेन श्री मनोहरा

इस राजा की सम्पत्ति न्याय के कारण ऐसी मन को हरने वाली है जैसी कमल से तलैया, चन्द्रमा से रजनी, यौवन से वनिता मन हरती है।

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमी मिवाभ्यन्तरलीन पावकम्। नदीमिवान्तःसलिलां सरस्वती नृपः ससत्वां महिषीममन्यत॥ इति रघौ॥

जैसे (रसना) कर्धनी की कड़ी एक दूसरी के साथ जुटी रहती है, वैसे ही एक उपमा दूसरी उपमा के साथ जुट जाने से रसनोपमा होती है; यथा—

चन्द्रायते शुक्ल रुचापि हंसो हंसीयते चारु गतेन कान्ता। कान्तायते-स्पर्शसुखेन वारि वारीयते स्वच्छतयां विहाय।

सफेदी से झलकता हुआ हंस चन्द्रमा का-सा प्रतीत होता है और हंस की-सी चाल चलती हुई कान्ता हंसी-सी हो रही है। स्पर्श-सुख के कारण जल कान्ता का-सा आचरण कर रहा है। स्वच्छता गुण से आकाश जल का-सा निमल हो रहा है। यहाँ चारों उपमा कड़ी के समान एक दूसरे के साथ जुटी हुई हैं। वाल्मीकि के सुन्दर काण्ड में इस प्रकार की उपमा तथा मालोपमा बहुत हैं; यथा—

हंसो यथा राजति पंजरस्थः सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः। वीरो यथा गर्वितकुञ्जरस्थश्चन्द्रोपि बभ्राज तथाम्बरस्थः।

शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो महारणं प्राप्य यथा गजेन्द्रः राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्रस्तथा प्रकाशो विरराजचन्द्रः। इत्यादि।

चन्द्रलोक में उपमा का क्या स्वरूप है, उसे भी दिखाते हैं। उपमान अर्थात् अधिक गुण वाले चन्द्र चंदन ,कमल आदि उपमेय अर्थात् वर्णनीय

पदार्थ मुख आदि हीन गुणवाले। इन हीन गुणवालों का जिसमें विशेष गुणवाले से सादृश्य दिखाया जाय वह उपमा है। अब उपमान उपमेय साधारण धर्म अर्थात् जिस बात में दोनों का सादृश्य दिखाया जाय और इव तुल्यवत् यथा आदि उपमा के द्योतक शब्द जहाँ हों वह पूर्णोपमा है। इन चारों में से एक या दो या तीन बात के न होने से लुप्तोपमा कही जाती है।

यथा—गुर्व्वचस्यर्जुनोऽयंकीर्तौ भीष्मःशरासने।

बोलने में बृहस्पति, कीर्ति में अर्जुन और बाण-विद्या में भीष्म हैं। यहाँ समान इव तुल्य आदि पद प्रत्यक्ष नहीं कहा; किन्तु उनके समान हैं। यह अर्थ अन्तर्गर्भित है, इसे वाचक लुप्तोपमा कहेंगे।

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गंगा भुजंगवत्।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत्॥

उसकी गंभीरता और गरुआई सत्य-सत्य समुद्र के समान है। जेठ-वैशाख के सूर्य के समान उसे लड़ाई के मैदान में कोई नहीं देख सकता। यहाँ चारों बात प्रत्यक्ष कही गई हैं; इसलिए यह पूर्णोपमा है।

आकृष्टकरबालोऽसौ संपराये परिभ्रमन्। प्रत्यर्थिसेनया दृष्टः कृतान्तेन समः प्रभुः।

तलवार खींचे लड़ाई के मैदान में घूमता हुआ यह राजा शत्रु की सेना से यम के समान देख पड़ा। यहाँ किस बात में यम के समान है, यह साधारण धर्म नहीं कहा गया। इससे यह भी लुप्तोपमा है, इत्यादि इसके अनेक उदाहरण हैं।

पौरं सुतीयति जजं समरान्तरेऽसावन्तः पुरीयति विचित्रचरित्रचंचुः।
नारीयते समरसोम्निकृपाणपाणेरालोक्य तस्यचरितानि सपत्नसेना॥

अराति विक्रमाले[illegible] विलोचनः।
कृपाणोद दोर्दण्डः स सहस्रायुधोयति।
स्वप्नेपि समरेषत्वां विजयश्रीर्न मञ्चति।

प्रभावप्रभवंकन्तं स्वाधीनपतिका यथा ॥

सेयंममांगेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिकादृशोः ।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरंगता ।

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना ।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्रीदिगलंकृता ॥

इन श्लोकों में ऊपर कही भाँति-भाँति की उपमा पाई जाती हैं, रसिक जन, जिन्हें संस्कृत से परिचय है, जान लेंगे। केवल भाषा जाननेवालों को इस लेख के पढ़ने में ऊब और अरुचि होगी, इससे उनसे प्रार्थना है कि क्षमा करें और यदि मन लगा के पढ़ेंगे, तो निर्ख कर सकेंगे कि हमारी आर्य-भाषा और दूसरी-दूसरी भाषाओं में क्या अन्तर है। निश्चय जानिये, उर्दू-फारसी के शायरों को तथा अंजरेजी भाषा के कवियों के ख्याल में ऐसी अद्भुत अनोखी चातुरी कभी नहीं आई। यह पथ ही निराला है, ऐसी किसी को सूझी ही नहीं !

जुलाई १८८९

रुचि

कोई काम हो उमदी तरह पर कभी नहीं होगा जब तक उस काम में रुचि न हो। गीता में भगवान् कृष्णचन्द्र ने कहा भी है—

बिना श्रद्धा अर्थात् रुचि के जप, तप, दान, हवन आदि जो किया जाता है, सब व्यर्थ है—करना न करना दोनों एक-सा है; न परलोक में उसका कुछ फल मिलता है, न इसी लोक में उस काम की कोई तारीफ करता है। शास्त्रवालों ने विधिपूर्वक या विधिवत् पर बड़ा जोर दिया है। सच पूछो तो रुचि या श्रद्धा से किसी काम का करना ही विधि है क्योंकि विधि तभी हो सकती है जब मन में हमारे उस काम की ओर रुचि है। ध्यान जमाकर देखिये तो मनुष्य जन्मते ही रुचि में दखल देने लगता है मानों रुचि उसकी दासी या जरखरीद लौंडी हो; बच्चे को माँ के दूध के एवज गाय या बकरी का दूध शीशी या रुई के फाहे में दिया जाता है तो वह उसको ऐसी रुचि से नहीं पीता, जैसा माँ का दूध। ऐसे ही माँ की गोद के बदले उसे पालने या चारपाई पर सुला दो तो कदाचित् दस में दो-एक ऐसे होंगे जिनको बिना रोये-गाये खुशी से उस पर लेटे रहना रुचेगा। फिर ज्यों-ज्यों उमर में वह बढ़ता जाता है, अपने हर एक काम खाना, पीना, सोना, ओढ़ना, पहिनना, खेल-कूद, पढ़ना लिखना आदि में रुचि को जगह देता जाता है।

रुचि ही के जुदे-जुदे प्रकारान्तर या उसकी बारीकियाँ फैशन के नाम से चल पड़े हैं; इस नई सभ्यता के जमाने में जिसकी हद्द से जियादह छान-बीन हो रही है। फ्रांस और इंगलैण्ड सरीखे मालदार सभ्य देशों में जिसकी यहाँ तक उन्नति है कि सुनते हैं, इंगलैंड में अमीर घरानों की लेडियों के लिये दिन में तीन बार पेरिस से उनके पोशाक आदि वेश-भूषा का नमूना आया करता है। वैसे ही हम लोग भी अपने खाने-पीने में रुचि की बारीकियों

को बेहद बढ़ाये हुये हैं। कोई कहते हैं, हम नहीं जानते लोगों को रोटी खाना कैसे पसन्द आता है, हमको तो दोनों जून ताजी-ताजी लुचुई और बेढ़नी मिलती जाय तो कभी कच्ची रसोई का नाम न लें। दूसरे कहते हैं, तुम्हारी भी क्या ही रुचि है? लुचुई-सी सकील चीज तुम्हें कैसे रुचती है; अजी, कहीं बिना कच्ची रसोई खाये जी भरता है। हमारे हिन्दुस्तान में कच्ची रसोई का तरीका ऐसा बढ़िया रक्खा गया है कि अगर तकल्लुफ को मौका दिया जाय तो हकीकत में रसोई रसायन हो जाती है। एक तीसरे बोल उठे, यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है। पर मेरी राय तो यह है कि खाना मुसलमान बहुत अच्छा पकाते हैं, खुसूसन गोश्त की किस्में। इस पर कोई कण्ठीबन्द वहाँ पर बैठे थे, बोल उठे—हरे-हरे तुम्हारी रुचि कैसी है, हम नहीं कह सकते। हमको तो मांस-भोजन का नाम सुन मिचलाई आने लगती है। आपने हमारे गोपालमन्दिर की खुशबूदार बसोंधी, मोहनथाल और दूसरे-दूसरे छप्पन प्रकार के भोग का महाप्रसाद मालूम होता है कभी आँख से भी नहीं देखा, नहीं तो मुसलमानों के भोजन को कभी न सराहते?

ऐसे ही पेय वस्तु में भी रुचि आ टाँग अड़ाती है। पीना हम उसे कहेंगे जो बिना दाँतों की सहायता के केवल जीभ और तालू द्वारा हलक के भीतर जाता है। परन्तु रस के ज्ञान में रसना अर्थात् जीभ का अधिक सम्बन्ध है तो वहाँ रुचि की सलाह ली जाती है। पेय पदार्थों में सबसे पहले पानी है जिसको वैद्यक वाले यों तो कहते हैं---शरत् और वसन्त ऋतु को छोड़कर और महीनों में नदी का पानी पीने योग्य है—

पानीयं पानीयं शरदि वसन्ते च पानीयम्।
नादेयं नादेयं शरदि वसन्ते च नादेयम्॥

कोई कहता है, हम तो सदा ताजा पानी पीते हैं और इसके सैकड़ों फायदा बतलाता है। दूसरे कहते हैं हम तो जाड़े में भी ठंढा पानी पीते हैं और गरमियों में तो बिना बर्फ प्यास बुझती ही नहीं। इतने में एक

अँगरेजी पढ़े वहाँ बैठे थे, बोले—आपको मालूम नहीं, कितने निहायत बारीक कीड़े पानी में रहते हैं। इसलिये इसे छान लेना बहुत जरूरी है। लिखा भी है—

वस्त्रपूतं पिवेज्जलम्।

मैंने तो एक फिलटर खरीदा है उसी में छान बिल्लौर ग्लास में पानी पीता हूँ। बर्फ के साथ शीशे के ग्लास में पानी रख पीने में बड़ा मजा मिलता है। इतने में एक चौथे साहब बोल उठे—हमको ये सब खटराग मालूम होता है। यहाँ तो खरा खेल फरुखाबादी पसन्द आता है। प्यास ने सताया तो दो आने फेंक दिये, सोडाअटर का बोतल मुँह में लगाया, घट्ट-घट्ट उतार गये, कलेजा तर हो गया। इतने में एक पाँचवें साहब जो वहाँ मौजूद थे, कहने लगे—हे भगवान्! धर्म के अब तुम्हीं रक्षक हो। न जानिये कैसा समय आया है कि अँगरेजी पढ़-पढ़ लोग भ्रष्ट हो जाते हैं। अपने तो कैसी ही प्यास लगी हो बिना चरणोदक मिलाये जल कभी नहीं पीते।

अब सोने को लीजिये। पंसेरियों खटमल से लदी हुई टूटी खाट से ले उमदा पलंग, ईजी-चेअर और कोच तक न जानिये कितने खटराग रचे गये हैं। सो सब इस रुचि ही के भाँति-भाँति के ईजाद हैं। इतने पर भी जब नींद का झोंका आता है तब यह रुचि यहाँ तक वेहया बन जाती है कि कंकड़ पर भी सोइये तो मखमली कोच का मजा मिलता है।—

निद्रातुराणां न च भूमिशय्या।

ऐसे भी जिद्दी सोनेवाले मनहूस पाये जाते हैं कि चलते-चलते सोते हैं, खाते-खाते सोते हैं, बातचीत करने में एक बात मुँह से निकली तो दूसरे में अन्तर्ध्यान हो गये।

अब पहनावे की लीजिये। लोग कहते हैं, यहाँ के लोग भद्दे हैं, फैशन नहीं जानते। पर यहाँ ग्रन्थ के ग्रन्थ नख-सिख सोलहों सिंगार के ऊपर लिखे गये हैं। यहाँ के अनगिनत क़िस्म के पोशाक और आभूषण जुदी-

जुदी रुचि के अनुकूल गिनने लगें तो घड़ी दो घड़ी न चाहिये, वरन् दिन का दिन समाप्त हो जाय। तो अब देर तक पढ़ने वालों को इस रुचि के भँवर जाल में फँसाय रखना और किसी दूसरे लेख के पढ़ने से वंचित रखना है, इसलिये इस सियापे को अब बन्द कर छोड़ते हैं। पढ़नेवालों की रुचि के अनुकूल फिर कभी निकालेंगे।

नवम्बर, १९००

लौ लगी रहे

लौ लगी रहे तो कठिन से कठिन और दुष्कर से दुष्कर काम सहज से सहज और सुकर हैं, दुर्लभ सुलभ, असाध्य सुसाध्य हैं। यहाँ तक कि राई का पर्वत और पर्वत का राई हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है, पर जो लौ लगी रहे, किन्तु लौ का लगना ही तो कठिन है। सच्ची लौ लगे तो संसार के क्षुद्र पदार्थों की प्राप्ति तो कुछ हुई नहीं, वरन् इन्द्रियातीत जो देवदूत और फरिश्तों को नहीं मिला, वह अनायास मिल सकता है। सच्ची लौ लगी तो जिसमें लौ लग जाती है वह जल, थल, जड़, चेतन, आकाश, पाताल सब ठौर सबों में वही-वही सूझता है। प्रह्लाद और नृसिंह का इतिहास इसका पूरा उदाहरण है। जिसको जिसमें लौ लगती है, उसको सिवा उस पदार्थ के और सब फीका मालूम होता है, उसे रस केवल उसी में मिलता है। विद्यार्थी को विद्या में लौ लगी तो एक-एक क्षण भी व्यर्थ बीतते उसे बड़ा अकरास गुजरता है। इसी से कहा है—"किं क्षणस्य कुतो विद्या"। कृपण को धन जोड़ने में लव लगी तो एक फूटी झंझी भी खरच करते या किसी को देते बहुत अखरता है—

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
किं क्षणस्य कुतो विद्या किं कणस्य कुतो धनम्॥

प्रेमी को अपने प्रेमपात्र में लौ लगी तो वह कामी आशिक तन सब-सब फजीहत और दुर्गति सहता, यहाँ तक कि सौदाई दीवाना बन जाता है। बेशरमी का जामा पहिने हुये लौ लगने के नशे में चूर-चूर कभी को लाख टके के जीवन तक से हाथ धो बैठता है। नीचे के श्लोकों में लौ लगने का बहुत अच्छा चित्र खींचा गया है—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूरं एव किं कमलैः।
अलमलमालिमृडालैरिति रुदति दिवानिशं बाला।।
तव विरहविधुरबाला सद्यः प्राणान् विमुक्तवती।
दुर्लभमीट्ट शमंगमत्वा न ते तामजहुः।।

सच है, वियोग लगन की ऐसी ही कसौटी है। कोई किसी प्रेमपात्री का संदेशा किसी से कहता है—तुम्हारे वियोग से विधुर फिर मिलने की आशा न समझ जल्द अपने प्राण छोड़ दिये। किन्तु यह विचार कि ऐसे कोमल अंग हमको अपने रहने के लिये कहाँ मिलेंगे, इसलिये प्राणों ने उसे न छोड़ा। एक दूसरा उदाहरण सच्ची लगन का यह भी है—

डर न मरन विधि विनय यह, भूत मिलैं निज बास।
प्रिय हित बापी मुकुर मग, बीजन अँगन अकास।।

जो कहीं परस्पर दोनों की लगन लग गई, तब तो एक मन दो तन, उसका कहना ही क्या, जैसा किसी शायर ने कहा है—

इसलिए तसवीर जाना मैंने खिंचवाई नहीं,
एक से जब दो हुए तो लुत्फ एकताई नहीं।

इत्यादि शृंगार-रस पूर्ण इसके अनेक उदाहरण हैं; सरस हृदय के लिये इतना दिग्दर्शन मात्र बहुत है।

भक्त को अपने उपास्यदेव में लौ लगी, तो वह अपने को सब भाँति अशरण माने हुए केवल उसी के स्मरण, कीर्तन, सेवन, पादबन्दन में निरन्तर अनुरक्त होने के और कुछ जानता ही नहीं, वह सब ठौर वही अपने उपास्य को व्याप्त मानता है। ऐसे तनमय लौलीन उदारचेता शुद्धचित्त सीधे जी को "तद्विष्णोः परमं पदम्" की प्राप्ति का दुस्कर है। सर्वव्यापी परमात्मा जो घट-घट की जानता है उसे सीधा निष्कपट भोला-भाला समझ क्यों न अपनावेगा। महात्मा ईसा का भी कथन है—"स्वर्ग का राज्य ऐसों का है जो इन बालकों के समान भोले और सीधे।"

प्राचीन समय में इस तरह के सरल-चित्त प्रह्लाद, अम्बरीष, शबरी, सुदामा आदि कितने अनन्य भक्त हो गये हैं जो अपने प्रभु और सेव्य की सेवा में सदा निरत और लौलीन रहे। इस काल के समय में मीरा, नरसी, कबीर, दादू, नानक, सूर और तुलसी प्रभृति अनेक महात्मा ऐसे हो गये जिनके हृदय का कपाट खुला हुआ था और जिनको परमेश्वर का साक्षात्कार हो गया था, जो भक्ति-रसामृत के अगाध सिन्धु में डूबे हुए निर्वाण-पद मुक्ति को भी लात मारते थे। इन सबों की ऐसी दृढ़ लौ लग गई थी कि उन्हें सारा संसार अपने सेव्य प्रभुमय था और सिवाय उस सर्वव्यापी के और कुछ था ही नहीं; जिनके समभाव में सब एक थे छोटा-बड़ा ऊँच-नीच कोई न था। जिनके कहे वाक्य या पदों में इतना असर है कि उन अक्षरों के कान में पड़ते ही जी पिघल उठता है, तो कैसे कहें कि ये महात्मा साधारण व्यक्ति थे? उपास्य और उपासक में क्या सम्बन्ध है और उस सम्बन्ध को जोड़ देनेवाली कौन-सी ऐसी डोर है जो दोनों को ऐसी दृढ़ता के साथ मिलाये हुए है? वह डोर यही लौ का लग जाना है। उसी को भक्ति, अनुराग, प्रेम, लगन, सख्य, सौहार्द्र, आत्मनिवेदन आदि जुदे-जुदे नामों से कहते हैं। फिर यह डोर वैसी नहीं है जिसमें गाँठ पड़ सके या उसके टूट जाने की सम्भावना हो। इसका कुछ पैंड़ा ही न्यारा है। प्रेम-रज्जु के बन्धन का ढंग ही निराला है।

बन्धनानि किल सन्ति बहूनि प्रेमरज्जु कृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडंघ्रिर्निष्क्रियो भवति पंकजबद्धः॥

बन्धन बहुत तरह के हैं पर प्रेम की डोर से बँध जाना कुछ और ही है; भँवरा काठ के छेदने में निपुण है सही, पर पंकज के प्रेम में मग्न हो उसके मुकुलित हो जाने पर रात भर उसी में बँधा पड़ा रहता है और कुछ नहीं कर सकता। यदि दृढ़ और सच्ची लौ लगी है तो इस डोर में गाँठ भी नहीं पड़ती क्योंकि गाँठ तो तभी पड़ सकती है जब लौ लगानेवाले को कहीं दूसरा सहारा हो; जब उसने अपने को अनन्यशरण और अगतिक मान

लिया तब उसके लिये सिवाय उपास्य देव के और कौन अगतिक का गति और शरण देनेवाला हो सकता है। समस्त दृश्य जगत चाहे अभी उच्छिन्न हो जाय या इस मर्त्यलोक के कीटानुकीट स्वर्गवासी अमरण देवताओं के ऊपर का दरजा प्राप्त कर लें, उपासक के सरल कोमल मुग्ध मन में इसका कुछ भी असर नहीं होता। इस बाह्य-जगत् के बनने या बिगड़ने से उसे कोई सरोकार नहीं यदि उसके उपास्य प्रभु का उससे कोई लगाव नहीं।

बड़े-बड़े चक्रवर्ती राज्यों का अधःपात तथा तुच्छातितुच्छ जनसमूहों का सांसारिक वैभव के ऊँचे शिखर पर चढ़ना, बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ जिस पर न जानिये क्या-क्या तूमार बाँध खयाली-पुलाव पकाया करते हैं, वे वे घट-नाएँ जिनकी बुनियाद पर मुल्क या कौम का बनना-बिगड़ना आ टिकता है उनसे अपने प्रभु की सेवा-टहल में लौलीन उपासक को कोई प्रयोजन नहीं, जिनका नम्बर हमारे देश में इतना अधिक है और मजहबी जोश इतना बढ़ा है कि इस तालीम के जमाने में कोशिश करने पर भी मुल्की जोश की ओर हमारी झुकावट होती ही नहीं। भक्ति-मार्ग जो अमृत-तुल्य है इस समय हमारे लिए जहर का प्याला हो रहा है। स्वर्ग की सीढ़ी हाथ लगती है, एक ही उछाल में इन्द्र के आधे आसन पर जा विराजोगे—इस अदृष्टवाद के बहाने इनसे जो चाहो सो करा लो, जो चाहो सो लै लो, कभी इनकार न करैंगे। कोई मुल्की मामले जिसमें मजहब या परोक्ष का दखल न हो, कभी उसमें ये प्रवृत्त न होंगे।

अस्तु, लौ लगी रहै—उपकारी को परोपकार की लौ लगी है; खल को दूसरों की बुराई ढूँढ़ने और पोड़ा पहुँचाने की लौ लगी है; सरकार को अपने राज की सीमा बढ़ाने की लौ लगी है; रूस को हिन्दुस्तान की लौ लगी है। हमारी लौ लगी है कि किसी उदारचित्त वीर पुरुष के मन में आ जाती, हम अपना निज का प्रेस कर लेते, पत्र चिरस्थायी हो जाता; गुरू जी की लौ लगी है जहाँ तक चेला मूड़ें मूड़ते रहैं और पन्थ बढ़ाते जायं। पादरी साहबों की लौ लगी है कि छल-बल-कल जिस उपाय से बनै, हिन्दु-स्तान के लोगों को ईसाई करते रहैं, जिसमें विलायत के बडे-बडे चेरिटी-

फंड को लूटने का सुभीता रहे, हमारी कारगुजारी उन-उन फंड के प्रधान लोगों की निगाह में जँचती रहे। ब्रह्मास्मि कहने वालों की लौ लगी है कि हमीं निर्वाण-पद पा जायँ और जन्म-मरण के क्लेश से मुक्त हों। इसलिये कि जब हम ब्रह्म हो गये और वह अजन्मा है तब जनन-मरण फिर कैसा! ब्रह्मास्मि वाले जिनका मनोनाश हवस का बुझा देना मुख्य उद्देश्य है, वे भी इस लौ लगने की डोर से कसे हुए हैं। तब हम लोग जिन्हें हवस एक दम के लिए नहीं छोड़ती और आशापाश-शतैर्बद्ध काम-क्रोध-परायण हो रहे हैं उनकी क्या? अंतर केवल इतना ही है कि जो भले हैं उन्हें भलाई की ओर लौ लगती है, बुरों को बुराई की ओर। आदमी का चोला पाय जिसे किसी में लौ न लगी उसका जन्म ही व्यर्थ है।

सितम्बर, १९०३

नाम में नई कल्पना

गाजीदीन, मसुरियादीन, गंगादीन, दुर्गादीन, सीतलादीन, मातादीन, भगवानदीन आदि दीनवाले नामों की हीन दशा पर हमें भी एक नई कल्पना सूझती है 'अकिल अजीरन दीन'। नाम कैसे होने चाहिये सो पहिले कहीं पर हम लिख चुके हैं। आज इस विषय को प्रसंग-प्राप्त देख पिष्ट-पेषण की भाँति फिर इस पर कुछ कहा चाहते हैं।

नामकरण भी देश या जाति की तरक्की की कसौटी है, जिस जाति में तरक्की रहती है उस जाति में नाम भी उतने ही शिष्ट-संप्रदाय के रक्खे जाते हैं। हम लोग जैसे और बातों में पीछे हटे हैं वैसे ही नाम धराने में भी। नाम के सुनते ही किसी घराने या जाति के बुद्धि-वैभव की पूरी परख हो जाती है। बंगदेशी भारत के और-और प्रान्तवालों की अपेक्षा कहाँ तक आगे बढ़े हैं और कितना अधिक बुद्धि का विस्तार इनमें है, यह उनके करण-रसायन कोमल पदावली-संपुटित नामों ही से सूचित होता है। वहीं हम लोग कहाँ तक बुद्धि-विस्तार में दरिद्र हो रहे हैं यह हम लोगों के छुन्ना, मुन्ना, कल्लू, गुदड़ू, चिथरू आदि नामों से प्रगट है, वरन् इसी बुद्धि की दरिद्रता ने हम लोगों में एक खयाल पैदा कर रक्खा है कि घिनौना नाम रखने से बालक चिरंजीवी होता है। इसी बुनियाद पर ननकू, मनकू, नरकू, घसिट्टू, मुनमुन, चुलबुल, पटल्लू, सहलू, भोंपत, भोंदू, सोंदू, तिनकौड़ी, दमड़ी, छदामी आदि अनर्गल, कर्णकटु घिनौने नाम रख दिये जाते हैं। किससे कहें? अकिल का अजीरन और समझदारी का जौहर तो है। इसी जौहर ने नाम ही की क्या, हमारी न जानिये कितनी बातों को अपनी मूठी में कर रक्खा है। जैसे स्त्रियाँ पढ़ाने-लिखाने से फूलती-फलती नहीं। मकान तंग और वायुसंचार-वंचित हो, तो उसमें रहने वाले सदा आसूदा और प्रसन्न रह फूलते-फलते हैं। ऐसी ही समझ ने प्लेग को देश

में टिक जाने के लिये सहायता दी है। गन्दे और तंग मकान में कबूतरों की ढाबली की भाँति सिकुड़े-सिकुड़ाये रहेंगे, पीले आम से जर्द पड़ गये बला से, फूलते-फलते तो जायँगे। किससे कहैं? इन गर्दखोरों के फूलने-फलने से क्या फायदा?

मारवाड़ी और दिल्ली आगरा के खत्रियों के नाम में बहुधा मल लगा रहता है। जिनके नाम में मल है तो उनके काम में कहाँ तक मल न होगा? सम्पूर्ण अभिधानावली, बड़ी-बड़ी लुगत और डिक्शेनरियों को छान डालो, मिठ्ठूमल कहीं न पाओगे। कोई-कोई जिनमें तरहदारी की बू आ गई है, अपने लड़कों का नाम काफिया बन्दी के साथ रखते हैं, जैसे छुन्नू, मुन्नू, साधो, माधो, सोहन, मोहन, रतन, जतन, सद्दू, मद्दू, मोंधू, भोंदू, और लड़कियों का नाम रम्मो, सम्मो, छन्नो, मुन्नो, दुल्लो, मुल्लो इत्यादि। पुराने ढर्रे को छोड़ कोई बात निकालना हमने सीखा ही नहीं, तब नामकरण में नया ढर्रा कहाँ से लावें? चरनदास, रामदास, गनेसदास आदि बहुधा एक ही नाम के एक मुहल्ले में बीसों पाये जाते हैं। न जानिये क्यों हमको इन नामों पर ओकलाई आती है। उसमें भी कुछ फर्क नहीं, नीच जाति तेली भुँजवा जो नाम रक्खेंगे, वही ऊँचे जाति वाले ब्राह्मण-क्षत्री भी। पुरुषों के नाम में महादेव, नारायण, राम, और स्त्रियों में गंगा, यमुना, पार्वती, लक्ष्मी, तुलसा। छोटे से छोटे शहर में एक-एक नाम के हजारों पाये जाते हैं। वहीं वंग देशियों में स्त्रियों के नाम कैसे सरस और मनोज्ञ रक्खे जाते हैं, जैसे कामिनी, निस्तारिणी, विश्व-विमोहिनी, कादम्बिनी, मृणालिनी, सरोजनी, कुमुदनी, नलिनी, क्षीरोदवासिनी, मुकेशी, उर्वशी, शशिमुखी, स्वर्णमयी इत्यादि। हम लोगों में जुग्गो, पग्गो, भग्गो, बतस्सी इत्यादि। फिर गृहस्थिन कुलवन्ती और वेश्याओं के नाम में कोई अन्तर नहीं रहता। बनारस में जानकी, सरस्वती, लक्ष्मी, कमला आदि नाम वेश्याओं के हैं।

मुसलमानों को हम अपने से हेठा समझते हैं पर नाम धराने में वे हमसे कितने अच्छे हैं। फातिमा, आयशा, जैनब, मरियम आदि देवियों के नाम

वेश्याओं के न पाओगे। वंगदेशियों की भाँति चन्द्रभामा, विलासिनी, कामिनी, मोहिनी, उन्मादिनी, स्वर्णलता, मालती, कामधुरा, बसन्तसेना, पिकबैनी, मेनका, तिलोत्तमा आदि रक्खे जायँ तो कौन-सी हानि; पर गृहस्थ और भले मनुष्यों को जब इसका ख्याल नहीं तो वेश्याओं को क्यों हो? कितने मुखन्नस नाम न जानिये किस उसूल पर रक्खे जाते हैं, न नर न मादा, जैसे राधाकृष्ण, सीताराम, गौरीशंकर इत्यादि। इस तरह के नामवालों को क्या समझें? स्त्री या पुरुष दोनों एक साथ हो नहीं सकते। कितने अपने नाम से आधे हिन्दू हैं आधे मुसलमान जैसे रामगुलाम, रामबख्श, कुँवरबहादुर। कितने जन्मे तो हिन्दू के घर पर नाम से मुसलमान ही रहे, जैसे रायबहादुर, अमीरबहादुर, नवाबबहादुर, बख्तबहादुर। हमारे कायस्थ महाशयों में इस तरह के यवन-सम्पर्क-दूषित नाम बहुत मिलते हैं।

भक्ति की भावना ने भी हम लोगों के नामों की खूब ही खाक उड़ाई। है। अपने इष्ट-देव के नाम के अन्त में दीन या दास का पद लगा दिया जाता है। न जानिये किस जून कैसी सरस्वती मुख से निकल पड़ती है। कहते-कहते अन्त में दीन और दास हो ही तो गये। काम में दास तो नाम में क्यों न हों? महेन्द्र, उपेन्द्र, सुरेन्द्र, व्रजेन्द्र, नरेन्द्र आदि प्रभुताशाली नाम क्यों रखायें जायँ? दासत्व तो नस-नस में समाना है। मनु ने दासान्त नाम शूद्र और हीन जाति के लिए कहा है। चारुदत्त, विष्णु, भूरिश्रवा, यज्ञदत्त, सुमति, सत्यसेन, कामपाल नाम तो अब सपने के खयाल हो गये। अब तो।

"धोबी के घर धरमदास हैं बाम्हन पूत मदारी।"

हमारी पुरानी भली बात सभी लुप्त हो गई तब नाम ही की क्या! बहुधा ये दास और दीन नामवाले नाक फुलाय-फुलाय, कहीं नख से सिख तक भर में जिसमें हिन्दुस्तानी होने की वासना भी न पाई जाय, इंगलीसाइज्ड हो सभ्यता के सिरमौर बनते हैं, पर उनके नाम से प्रकट हो जाता

है कि जिस कुल को उन्होंने अपने जन्म-ग्रहण से कदर्य कर डाला उस घराने में सभ्यता का कहाँ तक प्रकाश था। सच है—

"मूर्ख पुत्रस्तु पण्डितः तृणवन्मन्यते जगत्" इत्यादि नाम के सम्बन्ध में बड़े से बड़ा आल्हा गाने पर भी न चुकेगा।

अक्तूबर, १९०५

बड़ों के बड़े हौसिले

हमारे यहाँ के ग्रन्थकारों ने तृष्णा को पिशाची कहा है और निश्चय कर गये हैं कि इसका अन्त कभी होता नहीं ; वरन् इसका अन्त होना ही सुख की सीमा है। हम यह दिखाना चाहते हैं कि यह उनकी भूल है, सुख की सीमा चाहे हो या न हो पर तृष्णा का क्षय हो जाता है। रहा इतना कि जो बेचारे हकीर छोटे लोग हैं उनकी तृष्णा भी बड़ी, छोटी इंच-आध-इंच की लम्बी चौड़ी बात की बात में बुझ जा सकती है, किन्तु जो बड़े लोग कहलाते हैं, उनमें बड़प्पन के अनुसार सभी बात बड़ी होती है।—

सर्वं हि महतां महत्।

तब हौसिले के नाम से तृष्णा भी उनकी बहुत बड़ी होनी चाहिए, जो थोड़े में कभी बुझती ही नहीं। आसमान के सातवें तह लों बलन्द हौसिले जहाँ परिन्द भी पर नहीं मार सकते, थोड़े में कब बुझ सकते हैं? इसी से लोगों ने सिद्धान्त कर लिया है कि तृष्णा का क्षय हुई नहीं, किन्तु यह सिद्धान्त उनका क्या भूल से खाली नहीं है? विचार की कसौटी पर कसने से चित्त इसे स्वीकार नहीं करता कि तृष्णा का अन्त हुई नहीं। हाँ बड़े और छोटे लोगों की तृष्णा में फरक अलबत्ता होता है।

हम हिन्दुस्तानियों की छोटी बुद्धि, छोटी समझ, छोटी वाकफियत, छोटी हैसियत! तब हमारी तृष्णा भी नितान्त छोटी हुआ चाहे। पढ़-लिख दस-बीस की नौकरी पा गये अपने को कृतकृत्य मान बैठे; और जो कहीं सौ-पचास के हेड-क्लर्क, इंस्पेक्टर, तहसीलदार, डिप्टी या सदर-अमीन कर दिये गये तो फिर क्या भागवानी के ओर-छोर को पहुँच गये, सुख की सीमा के पार हो गये। हाँ, उनकी तृष्णा के क्षय में बेशक तरद्दुद

आ पड़ती है, जो हर तरह पर बलन्द समझे गये हैं अकिल में बलन्द, शाइस्तगी और सभ्यता में बलन्द, ताकत में बलन्द, इत्तिफाक और एका में बलन्द, तबियतदारी में फैशन की छिलावट में ऊँचे, ईमानदारी में बलन्द, तब हौसिला भी उनका बलन्द होना ही चाहिये। जब तक छोटे हाकिम जंट से लेफटिनेण्ट न हों, तृष्णा का अन्त होता ही नहीं। हम लोग रायबहादुर, सी० एस० आई० या राजा कर दिये गये, हौसिला पूरा हो गया। विलाइत के शाही खानदान वाले जो लार्ड या अर्ल कहलाते हैं उनके ऊँचे हौसिले का अन्त तब तक नहीं होता जब तक प्राइम मिनिस्टर, वजीर-आजम या कुल सियाह्-सुफैद के मालिक महारानी के प्रतिनिधि हिन्दुस्तान गवर्नर-जेनरल न कर दिए जायँ। हिन्दुस्तानी फौजी अफसर फौज में सौ-सवा-सौ की कोई नौकरी पा जाने ही से सन्तुष्ट हैं, उनका हौसिला अपनी बलन्दी के छोर को पहुँच जाता है। वहीं विलाइती फौज के अफसर जब तक कमेंडर-इन-चीफ न हों, उनका हौसिला पूरा नहीं होता।

हमारे देश के रुपये वालों के हौसिले का अन्त इतने ही से है कि घर बैठे पाँच आना चार पाई का व्याज मिलता रहे, डेउढ़ी के बाहर पाँव न रखना पड़े। किसी बड़े कारखाने में रुपया लगा देने से परता फैलाने पर व्याज का घाटा तो सबके पहिले है, उपरान्त काम न चला तो पूँजी से भी हाथ धोना पड़ेगा। विलाइत वाले एक लाख की पूँजी से जब तक दस लाख का कोई काम न करें, उनका हौसिला बुझता ही नहीं, इंगलैंड, अमरीका, हिन्दुस्तान, चीन सब को एक किये हैं। किसी एक काम में कुछ थोड़ा सा नुकसान सहना पड़ा तो दूसरे में एक का बीस गुना कर माला-माल हो गये। कम-हिम्मती की निशानी व्याज का घाटा हमारे समान विलाइत-वाले भी देखते तो इंगलैंड आज-दिन तरक्की के जिस ओर-छोर को पहुँचा हुआ है, कभी न पहुँचता। लक्ष्मी सब ओर से सिमिट-सिमिट जो विलाइत को अपनी वासभूमि कर रही हैं काहे को कभी करतीं? वहीं हमारे यहाँ रोजगारियों के उत्साह का अन्त केवल इतने से ही है कि कलकत्ते का माल बंबई पहुँचा दें और बंबई का दिल्ली-लाहौर में ढोय के रख दें।

इस हम्माली के काम में रुपये पीछे कहीं एक पाई मुनाफा हो गया, निहाल हो गये—रोजगार की चरम सीमा डाँक गये।

हमारे देशों के सुशिक्षितों के उत्साह का अन्त इसी में है कि वेश-भूषा, रहन-सहन, खान-पान में कहीं पर किसी अंश में हिन्दुस्तानी न मालूम हों। क्या करें? लाचारी है, चमड़ा गोरा नहीं कर सकते। कोइला से किरानियों के हौसिलों का खातिमा साहब लोगों की लिस्ट में नाम दर्ज हो जाने से है। पादरी साहब के हौसिले का अन्त तब हो सकता है कि दुनिया के सब लोग नार्थपोल से सौथपोल तक ईसा को अपना मुक्ति-दाता समझने लगें। हमारे ब्राह्मणों की तृष्णा का अन्त इसी में है कि नित्य उन्हें लड्डू और जलेवी पेट भर खाने को मिला करे और सबेरे से साँझ तक आध सेर सुँघनी सूँघते हुए साँड़ के समान डकराते हुए बैठे रहैं—

परान्नं दुर्लभं लोके शरीराणि पुनः पुनः

रेली ब्रदर्स के हौसिले का अन्त तब होगा कि हिन्दुस्तान में एक दाना भी गेहूँ का न रह जाय, सब का सब जहाजों में लाद विलायत तथा और मुल्कों में पहुँचाय दें। सैयद साहब के हौसिले का छोर तब होगा कि बीबी उर्दू कुल हिन्दुस्तान की अदालतों में अपना पंजा फैला दे और जितने ऊँचे ओहदे हैं सब उनके कौमवालों के लिये बतौर अमानत के रख दिये जायँ। दुर्भिक्ष-पीड़ित हमारे किसानों के उत्साह का अन्त और उनके सुख की सीमा इसी में है कि सरकार की बाकी न रहने पावे; पेट भर कदन्न खाने को मिलता रहे किन्तु मेघराज ने प्रण कर रक्खा है कि 'हम सो न होने देंगे' जब तुम दिन-रात दाँतों पसीने की मेहनत कर खेती तैयार करोगे तब हम तुम्हें गुड़ दिखाय ढेला मारेंगे और इतना पानी बरसेंगे कि शस्यध्वंस में कसर न पड़े और एक दाना भी तुम्हारे घर में न जाने पावे, राजा की नीयत और प्रजा के पुण्य का फल उजागर कर देंगे, इत्यादि।

जनवरी, १८९४

ढोल के भीतर पोल

ऊपर की यह कहावत छोटे बालक से ८० वर्ष के बुड्ढों तक में जैसी प्रचलित है, वैसी इसकी चरितार्थता भी सुस्पष्ट है। और किसी देश या जाति में चाहे इसके उदाहरण न मिलते हों या बहुत कम हों ; पर भारत तो इस समय इस कहावत का मानों उद्देश्य या लक्ष्य-सा हो रहा है, जहाँ की कोई ऐसी बात नहीं है, जिसमें पोल न पाई जाती हो—ऊपरी भड़क, नुमाइशी चटकीलापन देख चित्त चमत्कृत होता है। कभी जी में समाता ही नहीं कि भीतर किसी तरह की न्यूनता या पोल है, पर ज्यों-ज्यों तले तक डूब थहाओ त्यों-त्यों ढोल के भीतर पोल निकलती जायगी। दूर न जायँ हाल का दिल्ली-दरबार इसका बहुत ही स्पष्ट उदाहरण है। एक-एक छोटे-बड़े राजा महाराजा तअल्लुकेदारों की धूमधाम देखते ही बनती थी, जिनका आडम्बर, चमक-दमक और बाहिरी वैभव पर कदाचित् कुबेर भी सकुचाते रहे होंगे। इन्द्र और वरुण भी हार मान बैठे होंगे। लार्ड करजन महोदय के चित्त में भी यही समाया होगा कि निस्सन्देह भारत लक्ष्मी का केन्द्र-भाग है, कितना ही हो यहाँ का धन कभी चुकने वाला नहीं है, जो किसी कदर ठीक भी है। कहाँ की ऐसी कामधेनु धरती है, जो अत्यन्त उर्वरा होने से कई करोड़ का धन प्रतिवर्ष उगला करती है? दो वर्ष के लिये चिउटियाँ-ढोअन बन्द हो जाय और यहाँ का धन यहीं रहने पावे, देश का देश सोने-चाँदी से मढ़ जाय। अस्तु, जिस बनावट और चमक-दमक पर चित्त चकराता था उसे तले तक डूब खोजो तो वही ढोल में पोल। इन राजा और तअल्लुकेदारों में न जानिये कितने परस्पर की स्पर्द्धा में आय बाहरी प्रतिष्ठा बनाये रखने को इतना अपने वित्त के बाहर कर गुजरे हैं कि भीतर ही भीतर काँखते हुए कई वर्ष के लिये उनकी पोल न दूर होगी। ऐसा ही हमारी कौम के सरगना, अग्रसर या मुखियाओं के

कपटपूर्ण कापटिक आचरणों में ढोल की पोल देख मन में यही आता है कि जो घर के ढहानेवाले चौपटचरन हैं वे किस भरोसे पर बाहर कौम के सुधारक और संशोधक तथा रिफार्मर बनने का दावा बाँधते हैं। किसी प्रामाणिक लेखक ने ऐसा ही कहा भी है—

Breakers of home cannot be the makers of notions.

तात्पर्य यह कि जो अपने भीतरी चाल-चलन में निपट मैले हैं, जिनमें अनेक कुत्सित कर्म देख घिन पैदा होती है, वे इन दिनों सभ्यता की नाक बने हुए देश के सुधार का बीड़ा उठाए हैं। अवश्य ऐसों की करतूत सोपान के सहारे समाज-उन्नति-शैल के परमोन्नत शिखर पर चढ़ भारत-सन्तानों को जगत् उजागर कर दिखावेगी और देश का वह कल्याण होगा जो किसी दूसरी तरह असम्भव था। घर में भूँजी भांग नहीं, बाहर कागज का घोड़ा दौड़ाते लाखों का कारोबार फैलाये हुये बड़े मातबर और प्रामाणिक सेठ जी या शाहजी जगत् भर का जगड्वाल अपने ऊपर ओढ़े मिती पर मिती बराबर खाते हुए ढुलके चले जा रहे हैं ; दैव-इच्छा से एक दिन पहिया रुक गई, मुँह बाय टाट उलट बैठ रहे। हुण्डीवालों की नालिशें दगने लगीं, माल-आसबाब कुर्क हो गया, अदालत का खर्चा भी न रहा। चाहते थे कि हुण्डी में का गया धन आधा ही मिले, कुछ तो वसूल हो, पर वहाँ क्या था जो लेते, ढोल में पोल। पढ़नेवाले कहेंगे, यह महाखल है, औरों की पोल ही खोलते इसका जन्म बीतता है, अपनी ओर नहीं देखता।

खलः सर्षप मात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।
आत्मनो विल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति॥

हाँ सच है, पर यहाँ तो विना ढोल ही सब ओर से निरी पोल है, तब उसे क्या खोलें? बड़ा भारी कुनबा है। लड़की-लड़के, नाती-पोते, बहू-बेटियों से घर भरा है। बाहर के लोग देखनेवाले यही कह रहे हैं बुड्ढा बड़ा भाग्यवान् है। जैसा ही बड़ा कुनबा वैसा ही साहुत और एका कैसा है—

बाहर लोगवा यों कहैं मियां जियैं अरु बरकत है।
मियां की गति मियँ जानैं साँस लेत जो सरकत है॥

बुढ़ऊ भी ऊपर से बड़े भाग्यवान्, प्रतिष्ठित और बड़े कुनबे वाले बन संसार में अपना मुँह उजागर किये हैं, पर भीतर की किचकिच, लड़ाई-झगड़ों के कारण एक क्षण ऐसा नहीं जाता कि चिन्ता और फिकिर से छुटकारा पावें। भोर से उठ आधी रात लौ झौंझट छोड़ दूसरी बात नहीं।

सूरदास की काली कमली चढ़ै न दूजो रंग।

बुढ़ऊ हजार चाहते हैं कि सब छोड़ कहीं एकान्त में बैठ कुछ परमार्थ-साधन करैं, सब-सब चेष्टा करते हैं, पर कभी इस किचकिच से जान छूट सकती है? केवल इतना ही नहीं, बड़भागियों में हम भी समझे जाते हैं। इस नशे में चूर हैं, नाती हुए, पोते हुए, परोते हुए, सोने की सीढ़ी चढ़े, आज इसकी मँगनी है, कल उसका ब्याह है, परसों पोते का मूँड़न है, लड़की के लड़का हुआ रोचना आया जन्ना, साजना पड़ा, नतनी का ब्याह आ लगा, ननिहाली साजना पड़ा। तात्पर्य यह कि सब ओर की झौंझट और नोच-खसोट इस जीर्ण जरद्गव का पुरजे-पुरजे किये डालता है सही, पर यह मोहमयी प्रमाद-मदिरा में उन्मत्त है। एक दिन लम्बी तान मुँह बाय रह गये, घर की सब साहुत और एका रह गया। कुनवे के एक-एक आदमी अलग-अलग डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाते तीन-तेरह हो गये। ढोल में पोल देख पड़ने लगी। बुढ़ऊ की जो कुछ प्रतिष्ठा और भागवानी थी, सब की पोल खुल गई। दफ्तर में काम करते हैं; लोग समझते हैं; ये तो अमुक महकमे के हेड-क्लर्क हैं, कुल स्याह-सुफेद के मालिक हैं २०० या ३०० रुपये महीने में कमाते हैं। इनकी बड़े आराम और चैन से कटती है। यहाँ बाबू साहब में जो ढोल में पोल है, यह उनका जी ही जानता है। दफ्तर में १० से ४ तक कुइलड्इबरी में हैरान-परेशान, बात-बात में सर दफ्तर साहब की झिड़की और फटकार की डर, घर में आय फिर वही पिसौनी। एरियर ब्राटअप करते-करते फूचड़ा निकला जाता है। पेन्शन

के दिन भी पूरे न होने पाये, बीच ही में हरिःशरणं बोल गये। लोगों का देना निकला, घोड़ा-गाड़ी सब नीलाम हो गई। ढोल में पोल निकल आई। सब लोग समझते हैं, पण्डितजी बड़े विद्वान्, महात्मा और सच्चरित्र हैं। किसी तरह की झौंझट बिना उठाये घर बैठे गद्दी पुजाते हैं। यह कोई क्या जाने, पण्डितजी महाशय के सच्चरित्र में निरी ढोल की पोल है। चेलियों की कटार-सी भौं के कटीले कटाक्ष से वेदाग बचे रहना एक ओर रहा, शिष्य-सेवकों का ताव सम्हालना, उनका मन अपनी मूँठी में किये रहना क्या कम मुहिम है? हम लोग समझते हैं, हमारी प्रताप-शालिनी न्यायशीला गवर्नमेंट के न्याय-युक्त शासन में शेर-बकरी एक घाट पानी पीते हैं। प्रजा-मात्र के जानमाल की भरपूर रक्षा है। किसी को किसी पर किसी तरह की जोर-जुल्म की कोई शिकायत नहीं है और वास्तव में ऐसा ही है भी, किन्तु पुलिस का महकमा गवर्नमेंट ने एक ऐसा कायम कर रक्खा है कि जिससे सब न्याय और इन्साफ की पोल खुलते देर नहीं होती। जिसके संशोधन की बड़े-बड़े कर्मचारी सब-सब फिकर कर रहे हैं, पुलिस कमीशन जुदा ही इसके संशोधन में प्रवृत्त है, पर कोई कला नहीं लहती, एक छोटा-सा कानस्टेबिल भी चाहे तो इन्साफ की ढोल में पोल निकाल देने को भरपूर काफी है। हम समझते थे, एडिटरी का काम बड़ी स्वच्छ-न्दता का है। इसमें कहीं से किसी तरह की पोल नहीं है, समय से पत्र निकाल चुप हो बैठे रहे।

न ऊधो के देने न माधो के लेने।

पर तल्ले तक डूब के जो देखा तो जैसा इसमें ढोल में पोल है, वैसा किसी दूसरे काम में नहीं। टटके से टटके खयाल दिमाग से निकाल चुटीले से चुटीला लेख लिखो कि पढ़नेवाले रीझ तुर्त पत्र का मूल्य भेज दें। पत्र पहुँचा पढ़ कर प्रसन्न भी हुए, किन्तु मूल्य के तकाजे का कार्य रद्दियों में फेंक तीन कोने का मुँह बनाये बठे रहे, इत्यादि। विचार कर देखो तो इस मायामयी ममता के मोहजाल में फँसानेवाली ईश्वरीय रचना का अद्भुत

स्वरूप है जिसका कोई ऐसा अंग नहीं है जिसमें कहीं पर कुछ न कुछ पोल नहीं है, फिर भी वह मायामयी रचना मृगतृष्णा का पथिक बनाये हम सबों को अपने जाल में फँसाये हुये है। सच है—

ईदृशी राम मायेयं या स्वनाशेन हर्षदा।
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्याः प्रेक्ष्यमाणैव नश्यति॥

और सच तो यों है कि इस जाल से वे ही निकल सकते हैं जिसे वही अपनी दया-दृष्टि के द्वारा बाहर खींच अपना कर ले; नहीं तो संसार-महोदधि में गोते खाते पड़े रहो।

जनवरी, १९०३

कर्णामृत तथा कर्णकटु

कितने शब्द या वाक्य ऐसे होते हैं जो कर्ण-कुहर के द्वारा मन में पहुँच एक अद्‌भुत आनन्द उपजाते हैं। उदासीन और विरक्त के चित्त में भी असर पैदा कर देते हैं। जो कान में पहुँचते ही उदासीन की सब उदासी को सूर्य के उदय में घने अन्धकार की भाँति न जानिये किस खोह में जा छिपा देता है। विरक्त और त्यागी सब वैराग्य और त्याग भूल विषय-वासना के लासे में फँस पखेरू-सा फिर इस बड़े पिंजड़े संसार में आ पड़ता है, जहाँ से यह पहले तीव्र वैराग्य पंख के उग आने पर उड़ भागा था। इसी के विरुद्ध कितने ऐसे अरुन्तुद मर्मस्पृक् कर्कश कठोर शब्द होते हैं, जो कर्णपुट को बेध हृदय-कपाट को सहसा उद्‌घाटन करते मन में बेकली पैदा कर देते हैं। शान्त-शील मुनि की भी शान्ति में बट्टा लगाते हैं। आग में बारूद पड़ने की भाँति क्रोध एक बारगी भड़का देते हैं। नहूसत पैदा करते हुये होनहार कोई बड़े अमंगल के सूचक हैं।

कर्णामृत जैसे छोटे बालकों की तोतरी बोल, प्रेमपात्र का प्रेमालाप, जिसके आगे कोकिलाओं का कुहूनाद भी फीका मालूम होता है, और भी वर्षा के आरम्भ में चातक की पीहो-पीहो, भोर होते ही पंचम स्वर की लय में वृक्षों पर चिड़ियों की चहचहाहट सेवक के काम से निहाल और प्रसन्न स्वामी का सेवक की सराहना—पति परदेश गया है साध्वी पतिव्रता तन-छीन, मन-मलीन बड़े लोगों की लाज से अपने मन के भावों को छिपाती किसी तरह दिन काट रही है। अकस्मात् एक दिन डाकिये ने आय एक पत्री दिया जिसमें प्राणनाथ के दो ही एक दिन में आने का शुभ समाचार दिया है, कर्ण-रसायन उन अक्षरों को सुन पति के वियोग में ग्रीष्म के सूर्य के खरतर ताप से तपी लता-सी एकबारगी लहलही हो उठी। कान के बहरे, आँख के अन्धे, टूटी खाट पर करवट भरते, बूढ़ऊ जिन्दगी के दिन

ठेल रहे हैं। किसी ने आके कहा, लाला तुम्हारे परपोता हुआ है। अमी-रस-सा यह सुन्दर शब्द सुनते ही बुढ़ऊ उठ बैठे, मगन हो मन उनका मोर-सा नाचने लगा। योगियों की कठिन तपस्या-समान दिन-रात मेहनत कर इमतिहान दे आये हैं, पर एक परचा जरा बिगड़ गया है, हरदम जी खटका में रहता है। किसी दोस्त ने आके कहा—हम देख आये हैं, पास हुओं की लिस्ट में तुम्हारा नाम सब के सिरे पर है, सुनते ही इनके मन की कुम्हलानी कली खिल उठी। हजारों आदमी की भीड़ ठटाठट्ठ जमा है, लम्बे-चौड़े हाल में कहीं तिल भर की जगह खाली नहीं है, सब लोग इसी इन्तजारी में हैं कि वक्ता-वागीश कब अपनी मेघगंभीर गिरा में मधुर कोमल समुज्ज्वल शब्दों से मोती की लरी-सी पिरोयेंगे। लोगों की उत्कण्ठा जान वक्ता-वागीश ने अपना व्याख्यान आरंभ किया। चारों ओर चियर्स की मधुर ध्वनि से हाल गूँज उठा। सुनने वालों के मन में आनन्द की ऊर्मि उठने लगी, जैसे पूर्णचन्द्र का उदय देख समुद्र सब ओर से लहराने लगता है। वक्ता के एक-एक अक्षर में शब्द-चातुरी तथा अर्थ-चातुरी का उद्‌गार जान सब लोग मोहित हो गये।

अब कर्ण-कटु को लीजिये। राज कर्मचारियों में सबसे प्रधान महाराज एडवर्ड सप्तम के साक्षात् प्रतिनिधि-स्वरूप लार्ड कर्जन ने हम लोगों को झूठा, अशिष्ट, दुराचारी आदि न जानिये क्या-क्या कहा। हिन्दुस्तान के रहने वालों में कौन ऐसा होगा जो श्रीमान् के इन कर्णकटु शब्दों को सुन दुःखी न हुआ और जिसका दिल टुकड़े-टुकड़े न हुआ हो। किन्तु राजभक्ति प्रजा में ऐसी दृढ़मूल है कि लोगों ने सब सह लिया। कदाचित् श्रीमान् किसी दूसरे देश में होते तो जल्दी ऐसे कुवाक्यों के प्रयोग करने का साहस न कर सकते। दो कर्कशा स्त्रियाँ लड़ रही हैं। दाँत किर्रते गाली देते दोनों आपस में ऐसा कोसती हैं जिसे सुन कलेजा फटा जाता है, यही जी चाहता है कि दोनों का सिर मुड़वाय मुँह में कालिख पोत अंडमन टापू का पाहुन करा दें या चुड़ैलों के स्कूल में तालीम के लिये उन्हें भरती करा दें। बड़े से कुनबे का एकमात्र पोषक सपूत कुल की पताका किसी

काम से कहीं दूर देश गया है। अचानक तार आया बाबू को प्लेग हो गया। कर्णकटु यह बात सुनते ही घर के लोग घबड़ा गये, हाहाकार मच गया। किसी के तन में होश न रहा। दस सभ्य मनुष्य बैठे हैं, किसी गुरुतर विषय पर कथोपकथन करते हुए अपना मन रमा रहे हैं। अकस्मात् हंसों में कौआ-सा कोई कुन्देनातराश अकिल का कोता पर दौलत पास होने से 'पंडितंमन्य' वहाँ पहुँच गया और ऐसे-ऐसे अरुन्तुद कर्ण-कटु शब्द अपनी बोल-चाल में कह डाला कि लोग उद्विग्न हो गये, रसाभास हो गया, सब लोग खिन्न-चित्त हो उठ खड़े हुये इत्यादि, बहुत-से और उदाहरण सोचने से मिल सकते हैं।

पुराने इतिहासों को पढ़ने से प्रकट है कि यह कर्ण-कटु अनेक सर्व-नाशकारी घटनाओं का कारण हुआ है। "अन्धे के अन्धे होते हैं" द्रौपदी का दुर्योधन के प्रति यही कर्ण-कटु महाभारत की जड़ हुआ। लक्ष्मण ने जब रामचन्द्र के पास सूने वन में जानकी को अकेली छोड़ जाने से इनकार किया तब जानकी ने कैसे-कैसे अरुन्तुद वाक्य कहे। अन्त में उसका कैसा कुत्सित परिणाम हुआ कि रावण जानकी को शून्य वन में अकेला पाय हर ले गया इत्यादि और भी अनेक उदाहरण इसके मिल सकते हैं।

जून, १९०५

प्रकृति के अनुसार जीवन-मरण

ईश्वर ने प्रकृति के नियम ऐसे उत्तम किये हैं कि उनको लोक में यदि मनुष्य अपने जीवन की गाड़ी बे-रोक चलने दे तो सन्देह नहीं उसे, इस संसार को "आधि-व्याधि-पूरित" कहने का कदापि अवसर न मिले, वरन् वह जगत को केवल निरवच्छिन्न सुखों का अखण्ड भण्डार ही देखे और बार-बार पुष्पदन्त के राग में राग मिला यही कहे--

इदंहि ब्रह्माण्डं सकलभवनाभोगभवनम्।

सच है, मनुष्य दुःख भोगने के लिये नहीं उत्पन्न हुआ, किन्तु सृष्टि के विविध दृश्यों में उस अदृश्य बाजीगर के अद्भुत, अगम्य और असंख्य कौतुकों को अपने कायिक और मानसिक दोनों नेत्रों से देखकर जो कुछ सुख प्राप्त होता है और वह सुख अमित है, अपार है, अनवधि है, जिसका समझना ही मनुष्य के जीवन की सफलता है, उसकी प्राप्ति दुर्लभ नहीं रहती।

परन्तु यह निश्चय रखना चाहिये कि यह सुख जो यथार्थ में प्रकृति की सर्वोत्तम विभूति है, प्रकृति ही के नियमों से प्राप्य है। इस निधि पर पहुँचने के लिए सिवाय प्राकृतिक रोड के और कोई सड़क नहीं है। परन्तु सावधानी की आवश्यकता है कि एक गाड़ी फिसल जाय, उलट जाय, गिर जाय और टूट कर नष्ट भी हो जाय तो आश्चर्य नहीं।

आप देखते हैं कि जब से पिता का वीर्य-बिन्दु माता के उदर के स्थल-विशेष में अधिष्ठित होता है, प्रकृति तभी से अपना कार्य आरम्भ कर देती है। नौ मास के नियत काल में उस बिन्दु को जननी के शरीर में से अपेक्षित सामग्री की सहायता से मनुष्याकार कर अन्त को पृथ्वी पर ले आती है। यह शंका हो सकती है कि गर्भवास और जनन-प्रक्रिया का काल बालक को अनेक कष्ट और वेदनाओं का हेतु होता होगा। पर वास्तव में ऐसा नहीं है। उसे कष्ट अणु-मात्र भी नहीं होता, और यदि होता है तो तभी

जब कि प्रकृति अत्याचरित हुई हो। प्रकृति उसको गर्भ से इस प्रकार मुक्त कर देती है जैसे माँ सोते हुए बालक को अपनी गोदी से पालने में पौढ़ा देती है। वैद्यक-विद्या के तत्त्ववेत्ताओं का यह सिद्धान्त है कि यदि जन्मावस्था से प्राणी बराबर प्रकृति के नियमानुसार ही रहे तो मरण भी उसका वैसा ही सुखाला हो जैसा कि जनन हुआ था। प्रकृति उसकी देह को उसी तरह समाप्त कर दे जिस तरह आरम्भ किया था। अर्थात् प्राण का प्रयाण भी वैसा ही सुगम हो, जैसा प्रवेश था और वे "यातनाएँ" जो मरण-काल में प्रायः देखी जाती हैं, कभी न हों। किसी को याद नहीं है कि प्राण उसके शरीर में कब और किस भाँति से धँसे और जो प्राकृतिक नियमों का सहज अनुगामी है उसे मरते समय भी यह न मालूम होगा कि उसके घट से गला घुटकर जी निकल रहा है, अर्थात् प्रकृति के लाड़िले को मरने में भी कष्ट नहीं है और इसी प्रकार से मरने को "मौत से मरना" Natural Death कहते हैं।

यह बात सर्वथा सत्य है कि जो कुछ शारीरिक कष्ट प्राणी को होता है, केवल प्राकृतिक नियम-विरोध से और ये विरोध कभी-कभी इतने प्रवल और इतने अधिक होते हैं कि प्रकृति की एक नहीं चलने देते और नियत-काल के पहले ही प्राणी को उसकी गोदी से छीन लेते हैं और छीनते समय ऐसा कष्ट अनुभव कराते हैं जिसे मरण-काल की वेदना कहते हैं और जिससे डर कर किसी ने कहा है—

प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते।

प्राकृतिक नियम-विरोध जिस मृत्यु का कारण हो उसी को अप्राकृतिक मृत्यु या अकाल-मृत्यु कहना चाहिए। इस प्रकार की मृत्यु में प्राणी संबंधी प्राकृतिक नियमों की विजातीय विरुद्ध नियमों से लड़ाई ठाननी पड़ती है, जिसका परिणाम (कभी शीघ्र कभी विलम्ब से) भौतिक शरीर का समाप्त होना है। रोगजनित मृत्यु इस हेतु से अकाल-मृत्यु है।

यह बात याद रखने लायक है कि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति जन्म से ही प्राणी पर अपना बल करती है, परन्तु किसी शक्ति-विशेष से प्राणी इस

आकर्षण को आक्रमण कर लेता है। यदि प्राणी में ऐसी शक्ति न हो तो उसका शरीर कदापि न बढ़ सके और न चल फिर सके और पृथ्वी उसे जड़ पदार्थ की भाँति अपनी पीठ पर अवश्य पटक ले, परन्तु प्राणी इस अद्भुत शक्ति के बल से आकर्षण को परास्त करता हुआ बढ़ता चला जाता है। मनुष्य की वर्द्धन-शक्ति की परमावधि ३० वर्ष तक मानी गयी है, इसके अनन्तर शारीरिक वृद्धि रुक जाती है और स्थिरता आती है। इस बल-वीर्य-संयुक्त स्थिर दशा में मानुषिक देह फिर लगभग ३० बरस तक बनी रहती है; परन्तु इस ३० बरस के उपरान्त, अर्थात् जन्म से लगभग ६० वर्ष के अनन्तर वह शक्ति जिसने शरीर को पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से बचाया था, मन्द होने लगती है और नित्य-नित्य ऐसी घटती है कि अनुमानतः ३० ही बरस में मनुष्य के देह को जड़ पदार्थ की तरह पृथ्वी की पीठ पर पटक आप अवसान को प्राप्त हो जाती है। परन्तु कैसे पटकती है? पटकने में दुःख देती है, कष्ट भुगतवाती है? नहीं, कदापि नहीं, वरन् धीरे-धीरे (इतना धीरे कि मनुष्य को बिलकुल नहीं मालूम पड़ता) शरीर की संचित भौतिक शक्तियों को घटाती और हटाती जाती है और शरीर बिना अनुभव किये उनका त्याग करता जाता है, जैसे निद्रा के आगमन के समय बेमालूम सुखपूर्वक बेसुधी धीरे-धीरे छाती जाती है, उसी तरह मृत्यु भी बिना दुन्दुभी बजाये हौले-हौले प्राकृतिक-जीवी प्राणी के पास आती है।

वाह! ईश्वर की कैसी कृपा और चतुराई इस जनन-मरण व्यापार में झलकती है! और धन्य हैं वे जो इस कृपा के पात्र हैं।

जनवरी, १८८८

चढ़ती उमर

ईश्वर की सृष्टि में चढ़ती उमर भी क्या ही सुहावनी होती है, जिसकी आमद में क्या स्त्री क्या पुरुष कुरूप से कुरूप भी थोड़े समय के लिये अत्यन्त भले और सुहावने मालूम होने लगते हैं। लिखा भी है—

प्राप्ते च षोडशे वर्षे सूकरीचाप्सरायते।

नई जवानी, नये खयाल, नई उमंग, नई-नई सजधज, नये हौसले चढ़ती उमर के उभाड़ में सब नया ही नया, जर्जरित सड़े-घुने पुराने का कहीं लेश या छुवाव भी नहीं। इस दशा में नयों को जो पुराने की कोई कदर जी में न रही, तो इसमें अचरज की कौन-सी बात हुई। नयों को अपनी ओर अश्रद्धा देख पुराने जो उन्हें अशालीन, धृष्ट और गुस्ताख कह बदनाम करें, तो यह पुरानों की पुरानी अकिल की खूबी है। यद्यपि वे खुद भी अपनी चढ़ती उमर में ऐसे ही थे। लोहे ताँबे उतर अब बड़े संजीदा और बुजुर्ग बन बैठे, तो अब चढ़ती उमरवालों में नुक्ताचीनी करते सब दोष ही देख झुंझलाते हैं। यह नहीं सोचते कि इस नई उमर के उभाड़ में जो कुछ विनीत भाव, नम्रता, भलाई की ओर झुकावट और बुराई से घिन बनी रहे, वही गनीमत है, नहीं तो आदमी की जिन्दगी में यह वक्त ऐसा नाजुक और अल्हड़पने का होता है कि उसके जोश में जो कुछ निकृष्ट काम आदमी न कर गुजरे, वही उसकी तारीफ है। यह उमर अनेक दुर्व्यसन या बुराई के उगने और बढ़ने की प्ररोह-भूमि है। जैसे खेत जब जोत-बो के तैयार किया जाता है, तब उसमें जो बिया बोया जाता है, वह दिन-दूना रात-चौगुना फबकता हुआ बढ़ता जाता है। इसी प्रकार नई जवानी भी फलवन्त उर्वरा पृथ्वी का एक बाग है जिसमें मेवे के उमदा पेड़ न लगाए जायँ तो लम्बी-लम्बी घास आप से आप उग आती है।

इसी से चतुर सयाने बागवान की तरह अच्छे माँ-बाप अपनी सन्तान की पूरी फिकिर करते हैं। सदुपदेश सद्‌गुण अनेक विद्या, शिल्प और कला को वृक्ष की भाँति उनमें आरोपण करने की सदा चेष्टा किया करते हैं। बाप-माँ का उद्यम सफल हुआ और लड़का उनका इस चढ़ती उमर में भलाई और अच्छे ढंग की ओर झुक पड़ा तो जीवन-पर्यन्त भली ही बात करता जाता है। अनेक विद्या का उपार्जन कर वंश का भूषण हो जन्म भर अपने जन्म-दाता को सुख देता रहता है। बुराई और कुढंग की ओर झुक पड़ा, तो कुल का दूषण हो यावज्जीवन वह अपने माँ-बाप को डहता है। इस चढ़ती उमर में जब मनुष्य की यावत् वस्तु का उपचय होता जाता है, एक विवेक या विचार अलबत्ता पास नहीं फटकने पाता। सच कहो तो विचार को अवकाश उमर के धँसने ही पर मिलता है। गदहपचीसी प्रसिद्ध है। शादी का भी कौल है—

चेहल साल उभरे अजीजत गुजस्त।
मिजाजे तो अज हाल तिफली न गश्त॥

इससे सिद्ध हुआ कि परिपक्व बुद्धि या विचार-शक्ति मनुष्य में तब तक नहीं आती, जब तक इसकी चढ़ती जवानी का समय नहीं बीत गया। यही एक ऐसा भारी दोष है, जिससे नौजवानों में बहुत-से उत्तमोत्तम गुण, उत्साह, अध्यवसाय, दृढ़ता, स्थिरता, साहस, हिम्मत आदि के रहते भी वे क्षिप्रकारी, अविचारी और अविवेकी कहलाते हैं। सब भाँति निपांगुर अपाहिज बूढ़ी डाढ़ीवाले उन्हें छोकड़े, बालिश तिफ्ल और मूर्ख समझ अपने मुकाबले उनका कुछ भी गौरव नहीं मानते, चाहे वे कैसे ही विद्वान् हो गये हों। तो निश्चय हुआ नौजवानी की उमंग बड़े काम की होती है, यदि वे अपने काम समझदारी और विचार के साथ करते रहें। नवत्रय शृंगार रस का तो प्रधान सहारा है। १८ वर्ष की उमर से २५ वर्ष में हम जो कुछ कर लेंगे वह जीवन-पर्यन्त हमारे काम आवेगा। जिस ढंग पर हम ढुलक जायँगे, जन्म भर वह ढंग हमारा न बदलेगा। मदरसे आ रहे हों, मूँछों

की रेख भीजती हो, ऐसे वयःसन्धि में प्राप्त नई उमर को देख कन्दर्प अपने दर्प को कई गुना अधिक बढ़ा लेता है। इस तरह के नवयुवा या नवयुवती को परस्पर प्रेमबद्ध कराने में वह अपने पाँचों वाणों को एक साथ जब छोड़ने लगता है, वह समय जैसा नाजुक, सुहावना और प्यारा होता है वैसा ही भयंकर भी है। ऐसे समय आँख अलग उरझना चाहती है, मन में अलग उचाट होना आरम्भ हो जाता है, दोनों को परस्पर प्रणय-बन्धन में बाँध देना ही उस समय सयानापन है। शान्ति ऐसे ही समय की सराहने लायक है। इसी से किसी ने कहा है—

नवे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते।

जो नये वय में शान्त है, उसी को शान्त कहना चाहिये। ४० वर्ष के उपरान्त जब इन्द्रियाँ शिथिल होने लगीं, और अपने-अपने विषयों की ओर से उपराम को प्राप्त होने लगीं तब तो शान्ति अपने आप आय हमारा दामन पकड़ लेती है। घी ढरक गया, हमें रूखी ही भाती है। बुढ़ापे की शान्ति इसी भाँति की है। चढ़ती जवानी की उमंग का स्वरूप किसी ने इस तरह पर दिखलाया है—

चुलबुल चालाक चुस्त चरपर छिन-छिन में होत।
छैले छबीले छिछोरे ओर-छोर के।

नई जवानी में आये हुए को जब ये सब बातें न हों वरन् संजीदगी और गौरव का आदर उसके चित्त में हो उसी को शान्त कहना चाहिये और ऐसा ही मनुष्य समाज का अगुआ होने लायक है, जिनकी संख्या बहुत कम पाई जाती है। कोई-कोई ऐसे भी हैं, जो इस असिधारा-व्रत के व्रती पाये जाते हैं। नहीं तो नई जवानी के आरंभ में जैसा एक स्वाभाविक गहन अविवेकान्धकार बुद्धि में छाया रहता है, वह ऐसा नहीं है कि जिसे साधारण चिराग की क्या ताकत, वरन् बिजली की रोशनी भी हटा सके। इधर तरुणाई की तरल तरंग, उधर जो कहीं खाने-पीने की आशा इसके सिवाय बहुत-

सा धन पास हुआ और बेरोक-टोक खुद मुख्तार मालिक उस बड़ी दौलत के हुये तब फिर क्या कहना ? 'एक तो तितलौकी दूजे चढ़ी नीम।' ऐसी दशा में उनके दारुण लक्ष्मीमद की चिकित्सा और दर्पदाहज्वर की गरमी का शिशिरोपचार अति कष्टसाध्य है। उनके ऐश्वर्य-तिमिर-जनित अन्धत्व के दूर करने को बरेली में भी अब तक ऐसा कोई सुरमा न ईजाद किया गया।

चढ़ती उमर के जोश में बुद्धिवर्द्धक शास्त्रों के द्वारा माँजने से भी जब तक इसका नशा दूर नहीं होता, बुद्धि की स्वाभाविक मलिनता नहीं जाती, गदहपचीसी को जहाँ इसने डाँका और बाल पकने लगे कि पक्कापन उसमें आप से आप आ जाता है। सुफेदी से चकमते हुए बाल मानों गवाही देने लगते हैं कि बुद्धि के माँजने से जो चमक आई है वह अब तक छिपी रही है—आओ, अब उसकी चमक आकर देखो।

हमने ऊपर लिखा है, कोई-कोई ऐसे हैं जो चढ़ती उमर में भी असि-धारा-व्रत के समान चरित्र-पालन में सावधान रह चढ़ती उमर के स्वाभाविक दोष से बचे रहते हैं। उनके गुण-गौरव के प्रकाश का अवसर यही ढलती उमर का बाल पकनेवाला समय होता है जिनकी दमन शक्ति की दमक और बुद्धि-चातुरी की चमक अब चौगुनी बढ़ जाती है। धन्य हैं ऐसे लोग जो इस नई उमर की चौकसी से पार हो गुण-गांभीर्य के अगाध सागर बन औरों के लिए नमूना होते हैं। साधुजन ऐसों ही का सत्कार करते हैं, कुटुम्ब के लोग भी उसी का आदर करते हैं, विद्वन्मण्डली उसी को अपना अग्रसर मानती है, चापलूस मुफ्तखोरे खोटे लोग उसे देख शरमाते हैं, मुँह छिपाते हैं, उससे आँख मिलाने की हिम्मत नहीं बाँधते, धूर्त प्रतारक वंचक वक्र-वृत्तियों की कोई कला उसके सामने नहीं लहती। इसमें संदेह नहीं, यह उमर एक कसौटी है। जो इसमें कसे जाने से खरा निकल गया वह उमर के बढ़ने पर अपने चारु-चरित्र में चारुदत्त का नमूना बनता है। नीचे का यह श्लोक ऐसों ही के उदार चरित्र का दर्साने वाला है—

उपरि करबालधाराः क्रूराः सर्पाः भुजंगमपुंगवाः।
अन्तःसाक्षाद्दक्षा दीक्षांगुरवो जयन्ति केपि जनाः॥

यह लेख हमने केवल नई उमर वालों के उद्देश्य से लिखा है। आशा है, इसे ध्यान से वे लोग पढ़ेंगे तो अवश्य उनको एक प्रकार की चेतावनी होगी। नई उमर में जो बहुत से दोष मनुष्य में आ जाते हैं उनसे बचेंगे और समाज तथा अपने भी कल्याण-साधन में अग्रसर होंगे।

जुलाई, १८९७

दीर्घायु

मनुष्य के लिए आयु भी उन भाग्यवानी बातों में है जिसके बड़ी होने की इच्छा सबको होती है और जिसके लम्बे होने से कोई कभी नहीं अघाता। पैंसठ बरस के हो गये, पोते-नाती कौड़ी और दर्जनों की संख्या तक पहुँच गये, अंग-अंग शिथिल पड़ गये, उठते-बैठते काँखते हैं। कान ने अलग जवाब दे दिया, सुन नहीं पड़ता, कमर झुक गई, आँख अलग धोखा दे गई, नजर मोटी पड़ गयी, चश्मे की हाजत होने लगी, तो भी जीने से न अघाने। रोज भोर उठ देवता-पितर मनाते हैं, थोड़ा और जीते, कनुआ के भी लड़का हो जाता, परपोता देख लेते, सोने की सीढ़ी चढ़ तब मरते तो अच्छा होता। किन्तु विवेकी बुद्धिमान् संसार की असारता ने जिसके मन में भरपूर कदम जमा लिया है वे लोग ऐसा नहीं मानते। वे अल्पायु ही को बड़ी बरकत कहते हैं।

जिकिर है, किसी फकीर कामिल ने आकर नवाब खान-खाना से कहा-मैं तुम्हारें लिए दुआ करता हूँ और तुमको एक ऐसी जड़ी-बूटी दूँगा कि जिसे खाकर तुम या तो अमर हो जाओगे, या हजारों वर्ष जिओगे। नवाब खान-खाना ने जवाब दिया, मैं ऐसी बूटी कभी न खाऊँगा। फकीर साहब मुस-किराये और पूछा, क्यों? नवाब बोले, वह आप की बूटी आप ही को मुबारक रहे, मैं अमर या दीर्घायु हो के क्या करूँगा। मेरे बन्धु मित्र, लोग, कुटुम्ब सबों की मौत मेरे सामने होगी तो मैं कहाँ तक उनके वियोग का दुःख महता रहूँगा। मैं बाज आया तुम्हारी दुआ और बरकत से, मुझे ऐसी बूटी न चाहिए।

अचरज तो यह कि "तुम दीर्घायु हो, दीर्घजीवी हो" इसे सचमुच संसार में आशीर्वाद कहते हैं, "शतं जीवेम शरदः शतात्" इत्यादि वेदवाक्य भी हैं। यदि यह कोई कहे, तुम अल्पायु हो, जल्द इस दुनिया फानी से रवाना बाशद हो, तो जिसे कहो वह बुरा मान जायगा, आपका दुश्मन बन बैठेगा।

इसमें सन्देह नहीं मनुष्य बहुत दिनों तक संसार में रह बहुत-सी बातों का अनुभव करता है; चतुराई, ज्ञान, जानकारी आदि बढ़ती जाती है, जिससे वह अपने को और दूसरों को भी बहुत कुछ फायदा पहुँचा सकता है। लोग उसको प्रतिष्ठित और प्रामाणिक मानते हैं। उसकी हर एक बात की कदर करते हैं। मनु ने भी लिखा है—

"शूद्रोपिदशर्मी गतः।"

शूद्र भी ९० के ऊपर पहुँच गया हो तो अभिवादन आदि के द्वारा उसकी वैसे ही प्रतिष्ठा करे, जैसी ब्राह्मण की होनी चाहिए। पर यदि कोई दीर्घायु-वाला पाप और बुरे कामों पर कमर बाँधे, तो उसको बुराई का बहुत दिनों तक पूरा मौका मिलता रहेगा। रावण ऐसे बहुत दिनों तक जी कर क्या किया होगा, पाप और हत्या ही करता रहा होगा। इस संसार में बीती बातों का सोचना और याद करना भी बड़ी बात है। जब कभी हमारे मन में आता है कि फलाने समय फलाने मौके पर हम कैसी घोर विपत्ति में पड़ गये थे, या यह स्मरण होता है कि अमुक समय हमको कैसे-कैसे सुख मिले तो चित्त में आनन्द होता है और ईश्वर का धन्यवाद करते हैं कि उसने हमें दीर्घजीवी कर उन-उन विपत्तियों से हमारा उद्धार किया; तथा ऐसे-ऐसे श्रेय और कल्याण का भाजन हमें किया; पर जब यह याद आता है कि फलाने हमारे हितैषी प्रीति-पात्र मित्र गुजर गये, तो कैसा दुःख और सन्ताप चित्त में बढ़ता है? इससे दीर्घायु की उपमा हम उस धूपछाँह से देंगे, जिसमें अच्छा और बुरा दोनों रंग दिखाई पड़ते हैं। जिसने जीवन को सुकर्म और भला करने में बिताया उसका दीर्घायु होना भी बड़े आनन्द की बात है और संसार के बड़े उपकार का है। पर कलियुग का कुछ ऐसा नियम है कि—

पापी चिरायुः सुकृती गेतायुः॥

पापी बहुत दिनों जीते हैं, सुकृती जल्द उठ जाते हैं। चिरायु और अल्पायु दोनों की एक हद है; २५-३० या ४० के भीतर उठ गये, अल्पायु कहलाये; ८० या ९० पहुँचे, चिरायु हुए। अत्यन्त अल्पायु होना नितान्त अभाग्य है।

अन्धे-बहिरे अपाहिज हो ८० या ९० पहुँचे, स्मरण-शक्ति जाती रही, अक्लि या समझ न रही, कहा कुछ जाता है और समझता कुछ है। और इस बुरी दशा से १०० वर्ष जिया भी तो कौन-सी भाग्यमानी उसकी है। हाँ, अविकलेन्द्रिय दीर्घजीवन अलबत्ता प्रशंसनीय है। वेदों में जहाँ दीर्घ जीवन की आशिष-प्रार्थना की गई है वहाँ अविकलेन्द्रिय दीर्घजीवन माँगा गया है। तद्यथा—

शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं पश्येम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीना स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात।

मैं सौ वर्ष जीऊँ, सौ वर्ष तक सुनता रहूँ, सौ वर्ष तक देखता रहूँ, सौ वर्ष बोलता रहूँ, सौ वर्ष तक दीन न हूँ, पुनः ऐसा ही सौ वर्ष और कटें इत्यादि। वेदोक्त ऐसा जीवन बड़े भाग्यवानों का होता है जो अब इस समय लाख-करोड़ में कदाचित् एक भी इस तरह के नहीं मिलते जो सब भाँति अवि-कलेन्द्रिय हो इतने दिन जीये हों। इसी से ६०-६५ या ७० तक जीवन सब तरह पर अच्छा है और उतने समय ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों प्रौढ़ और पुष्ट बनी रहती हैं। अपूर्व पुण्यशाली भाग्यवान् ऐसों ही को कहना चाहिए।

हम ऊपर कह आये हैं, मनुष्य-मात्र में दीर्घ जीवन की इच्छा प्राकृतिक है इसलिए कि हम बड़ी उमर तक जी कर संसार के अनेक भोग-विलास का सुख अनुभव करें। जो शरीर से स्वस्थ और सब भाँति सुखी हैं उनको यह इच्छा होना कोई अचरज नहीं है। किन्तु जो रोग से पीड़ित और बड़े-बड़े दुःख सह रहे उनको भी रोग से छुटकारा पाना और सुख भोगने का समय कभी आने की आशा दीर्घायु होने की इच्छा को प्रबल करती है :—

कल्याणी बत् गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥

लोगों की यह कहावत हमें बहुत ठीक मालूम होती है कि मनुष्य जीता रहे तो एक न एक दिन वैसा सुख उसको आ उपस्थित होता है कि उसके

सुख का वह पलरा दुख के उस पलरे के बराबर हो जाता है जिसे वह तमाम जिन्दगी भर सहा किया। और यह आशा बड़े-बड़े दुखियाओं को जीने की ओर से निरुत्साह होने से रोकती है। लोग दुख में पड़ सकते हैं, मुझ अभागे को मौत नहीं आती। कितने तो दिन में कई बार ऐसा कह उठते हैं। जरा-सा झंझट और तरद्दुद या संकट आ पड़ा कि मौत का आवाहन करने लगते हैं। पर यदि कोई उन्हें यह निश्चय करा दे कि कल तुम मरोगे तो रंग फीका पड़ जाता है, आँसू बहने लगता है। इसे आप चाहे मोह कहो, माया में पड़ना कहो, अज्ञान कहो या जीवनाशा कहो, कड़े से कड़े आदमी को भी उस समय जी पिघल कर नरम पड़ जाता है।

यद्यपि कवि सिरमौर कालिदास का कथन है :—

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः।

शरीरधारी के लिए मरण प्राकृतिक है, उसका जीता रहना ही प्रकृति के विरुद्ध है, पर जीवनाशा कवि के इस कथन पर कभी नहीं किसी का ध्यान जमने देती। मनुष्य एक ऐसा संयोग-सहचारी (Social Animal) जीव है कि जब से माँ के पेट से निकल धरती में पाँव रक्खा कि संयोग-सुख का अनुभव करने लगता है। वियोग का विचार और चर्चा भी उसे नितान्त कष्टदायी होती है। अब थोड़ा यहाँ पर आपको यह दिखलाना चाहते हैं कि कौन किसलिए दीर्घायु होने की इच्छा रखते हैं।

बुद्धिमान्, कवि-कोविद, विविध कला-निपुण (Artist) इसलिए बहुत दिनों जिया चाहते हैं कि जिस कला या हुनर को उन्होंने सीखा है या नई ईजाद की है, उसे परिणत करें अर्थात् औरों में उसे फैलाय अपने हुनर और कला को और बढ़ावें या पक्की करें। बुढ़ापे में मानसिक या शारीरिक शक्तियों के कम हो जाने से कभी किसी नई रचना की बुद्धि न रही तो कवि अपनी पुरानी ही रचना या कृत्य को देख या याद कर अपना मन प्रसन्न करता है और उसकी आत्मा जुड़ाती है। विद्वान् तथा बुद्धिमान् दीर्घ जीवन में जो उसे अनुभव हुआ है, उसे और भी पुष्ट किया चाहता

है। उपाधिधारी बड़ी मेहनत और बहुत-सा खर्च कर जो पदवी उन्होंने पायी है उस पदवी का फल राजा और प्रजा में मान, लोगों के बीच प्रतिष्ठा और सत्कार के सुख का अनुभव किया चाहते हैं। वकील, बैरिस्टर तथा जज लोग दीर्घ जीवन इसलिए चाहते हैं कि कानूनों के जाल में प्रजा को फँसाने के लिए हिन्दी की चिन्दी निकाल कानून की बारीकियों में सान चढ़ाते रहें। एडिटर दीर्घ जीवन इसलिए चाहते थे कि अपने कलम के जोर से राजा और प्रजा दोनों की भलाई करते हुए अपनी लिखावट से पढ़नेवालों का मन अपनी ओर खींच लें, पर सेडिशन के भय ने उन्हें संकुचित कर दिया तो उनका हौसला पस्त हो गया। हमारे सेठजी दीर्घ जीवन की इच्छा इसलिए रखते हैं कि गंजिया पर गंजिया रुपयों से भर तहखानों-सेहखानों में सौत के रखते जायँ। किसी उचित काम में जिसमें देश या जाति-भलाई की आशा हो, उसमें एक पैसा खरचते मन में हजार तरह का आगा-पीछा हो, पर लड़की-लड़का ब्याहने में गंजिया की गंजिया लुट जायँ कुछ परवाह नहीं, इत्यादि।

जून, १८९८

विशाल वाटिका

पहले इसके कि इस विशाल वाटिका का हाल हम अपने पढ़नेवालों को कह सुनावें ; उचित जान पड़ता है कि जिस बाग का सैलानी हम उन्हें बनाते हैं ; उस बाग के बागवान के साथ उनका परिचय करा दें। यह बागवान यद्यपि बूढ़ा हो गया है और अब इसकी नस-नस ढीली पड़ गई है, पर बागवानी के हुनर में सब भाँति कुशल अपने नये-नये साथियों से कहीं पर किसी अंश में कम नहीं है। इस बाग के माली में यह एक अनोखा गुण पाया गया कि इस बाग की सर्वाङ्ग सुन्दरता पर मोहित हो, जो यहाँ आया, उसे इसने इतना लुभाया कि वह अपनी निज की जन्म-भूमि को भूल यहीं का हो गया। इस तरह के पाहुने एक-दो नहीं, वरन् न जानिये कितने आये और आते-जाते हैं। कितने भूत के आकार से लम्बी-लम्बी दाढ़ी वाले यहाँ के फल-फूल पर प्रलोभित हो आये। जो कुछ हाथ लगा, नोच-खसोट चम्पत हुए। एक इन लुटेरों में से पाँव का लँगड़ा भी था। कोई-कोई आये तो इसी मनसूबे से कि जो कुछ पावें ले-लेवाय चल खड़े हों, पर इस बाग के माली के साथ उनकी ऐसी खिल्तमिल्त हो गई कि वे भी अपनी जन्मभूमि को भूल यहीं के हो गये। कोई अदला-बदला करने की इच्छा से आये, उनकी उजाड़ ऊसर धरती में जो कुछ उन्हें मिला उसे यहीं छोड़ यहाँ के सुस्वाद रसीले और सुगन्धित फल-फूल ले गये। कुछ दिन के उपरान्त उनको भी जंगल, उजाड़ और ऊसर धरती में रहना पसन्द न आया। इस चतुर माली के कोमल बर्ताव से इस मनोहर वाटिका पर मोहित हो उन्हें भी यहीं अपना घर बनाना पसन्द आया।

इन आगन्तुकों में अमित असीम महोर्मिमाली वरुणालय को नाँघते-डाँकते एक ऐसे आये जो अपनी काल-व्याल-सी भीषण विकराल दृष्टि के पात से उस बढे बागवान को संत्रासित करते नस-नस उसकी ढीली कर

डाला। भोलाभाला बागवान इसी ख्याल में था कि यह भी हमारी इस मनोहर वाटिका पर रीझ यहाँ बस हमारा एक अंग बन जायगा। किन्तु यह नया पाहुना ऐसा चालाक निकला कि इसने उस समस्त वाटिका को तिल-तिल नाप जोख बात की बात में अपना अधिकार उस पर जमा लिया और सरल चित्त बाग के माली को सब ओर मे ऐसा जकड़ लिया कि अब यह इस नये पाहुने के पेंच में पड़ा हुआ सब भाँति बेबस हो गया और जो कुछ समझ रक्खा था कि थोड़े दिन के जोर-ज़ुल्म के बाद या तो यह चला जायगा यहीं बस जायगा तो औरों की तरह यह भी हमारा ही होकर रहेगा सो सब बात उलटी पड़ी। यह पाहुना चालाकी में एकता निकला। पहले वालों का सब दास्तान जान चुका था और बागवान की प्रलोभन शक्ति को भी खूब टटोल लिया था। इसने अपनी जन्मभूमि का सम्बन्ध न छोड़ा वरन् जहाँ जो कुछ हीर पदार्थ इसने पाया अपनी मातृभूमि में भेजना आरम्भ कर दिया और सर्वथा बागवान और बाग को निःसत्व कर डाला।

अस्तु, यद्यपि इस वाटिका की सर्वाङ्गसुन्दरता हर ली गई और पहले की-सी पवित्रता-उज्ज्वलता अब कलुषित और दगीली कर दी गई, फिर भी ऐसी-ऐसी क्यारियाँ इसमें मौजूद हैं कि जो जिस तरह के फल-फूल का रसिक है वह यहाँ पहुँच अपनी रुचि के अनुकूल उस तरह का पाय मनमाना उसे छक कर तृप्त और अघाया हुआ अपने को मालूम कर सकता है। पहले हम अपने पढ़नेवालों को उस क्यारी के पास ले जाते हैं जो इस बाटिका के जीर्णारण्य में सब ओर लम्बी-लम्बी घास और नुकीले सुये की भाँति चुभने वाले काँटों से आवृत्त है, जहाँ पहुँच बाग के सैलानी को इस श्लोक के भावार्थ का भरपूर अनुभव होता है :—

"पत्रपुष्पफललक्ष्मीः कदाप्यदृष्टं वृतं च खलु शूकैः।
उपसर्पेम भवन्त वद बबुर कस्य लोभिन"॥

इस क्यारी का सब गाटे का गाटा कण्टकावृत्त होने मे निकम्मा हो रहा है। जहाँ कहीं कोई पेड़ भी है तो विषफल उसमें फलते हैं, जिसके खाने-

बालों की रग-रग में उन फलों का असर बैर-फूट व परस्पर की स्पर्द्धा ईर्ष्या, द्रोह, मद, मात्सर्य के सिवाय और कुछ वहाँ हुई नहीं। इन फूलों की तीखी महक और इसके फल का कडुआ रस दूर-दूर तक इस सम्पूर्ण वाटिका में ऐसा व्याप गया है कि समस्त गुण-रंजित होने पर भी यहाँ के पेड़ केवल फूट के कारण नहीं फबकते। इस गाटे की धरती में एक अनोखी बात देखने में आई। ईसाइयों की धर्मपुस्तक में लिखा है कि खुदा ने आदम को ज्ञान के पेड़ का फल खाने को मना किया था, पर इसके विरुद्ध यहाँ अज्ञान का वृक्ष न जानिये कहाँ से उग आया है कि जिसने अज्ञानता के फल को चक्खा उसमें विज्ञता-सम्पादन की यावत् चेष्टा और प्रयत्न सब व्यर्थ होता है।

प्रिय पाठक! इस बाग के सैलानी बनते हो तो सावधान रहो, दत्त-चित्त हो हमारी बात पर ध्यान दो। ऐसी न जानिये कितनी क्यारियाँ इसमें हैं, उनकी ओर न झुक पड़ना। ऐसा न हो कि उन विषैले फलों की हवा तुम्हें लग जाय और तुम इन फलों के खाने वालों के साथी बन जाओ। लो आगे चलो, देखो ये कैसी मनोहर क्यारियाँ हैं। इसके अनगिनित पेड़ फूल और फलों से लदे लहलहाते हुए कैसी शोभा दे रहे हैं। इसके फूल-फल उन्हीं को सुलभ हैं जो परिश्रमी, दृढ़संकल्प और उद्यमी हैं। जिनमें इतना साहस है कि काम पड़ने पर असीम महासागर और दुर्गम खाड़ियों को "गोष्पद" गऊ के खुर के समान पार कर डालते हैं। "किं दूरं व्यवसा-यिनाम् ?" इसका कला-कौशल, हाथ की कारीगरी, विज्ञानचातुरी, शिल्प और वाणिज्य दूर-दूर के देश तक विख्यात रहा। इसी से बाग के माली का अनेक बार की लूट-पाट पर भी जरा मन न मटका, सदा सुख-चैन की दशा में रहा आया। किन्तु थोड़े दिनों से अकाल-जलदोदय की भाँति एक ऐसी घटा उमड़ आई कि जो शिल्प और वाणिज्य दूर देश तक फैला था और जिसकी कदर की थाह न थी, खुरखुरा भद्दा, और मोटा वरन् घिन के लायक हो गया।

हम लार्ड कर्जन को धन्यवाद देते हैं जो इस क्यारी की भूमि में एक

ऐसी खाद छोड़ चले कि विदेश से आई हुई वह घटा छिन्न-भिन्न हो गई। परदा जो आँख के सामने था, हट गया; एकबारगी सबके सब चौंक पड़े, जैसे कोई सोते से जाग उठे। सोचने लगे, हाय हम सब लोग किस मोह जाल में पड़े थे। अब नये सिरे से इन क्यारियों के पेड़ों को सींचने और सजाने में बड़ी सावधानी से दत्तचित्त हो रहे हैं। आशा होती है, अब यहाँ के फूल-फल पहले से भी अधिक सर्वग्राह्य होंगे। बागवान जो दीन दशा में आ गया है और इसके लड़के-वाले जो काम न करने से भिखारी हो गये, बड़े-बड़े धनियों के समकक्ष हो जायँ तो क्या अचरज ?

चलिए, अब आपको दूसरी क्यारी की सैर करावें, जहाँ की पुण्य-भूमि और पवित्र स्थलियों में कल्पवृक्ष से पादप उपज कर अपने जगद्विदित घ्राण तर्पण सुरभित कुसुम की कुसुमावलियों से संसार की कौन ऐसी दार्शनिक-मण्डली, विविध कला-कोविद विद्वानों का समूह, कवि समाज तथा वैज्ञानिक बच रहे, जहाँ इन फूलों की सुगन्धि नहीं पहुँची। पेशगोई और नवूअत का झण्डा गाड़े हुए धर्म के प्रचारक जो ईश्वर का एकलौता पुत्र तथा जगत का त्राणकर्ता कह अपने को प्रसिद्ध किये थे वे भी इन क्यारी के वृक्षों का फल चख कृतकृत्य हो गये और यहाँ के अमोघ ज्ञान के दो-चार बिन्दु पाय अघाय उठे ; किन्तु हा कुचाली काल चाण्डाल का सत्यानाश हो, अकस्मात् एक ऐसा हिमपात हुआ कि इस बाग के सब पेड़ ठिठुर-से गये और वे फल-फूल जो ऐहिक तथा आमुष्मिक ज्ञान इहलोक और परलोक के उपकार-साधन का स्रोत या केन्द्र है, हिम के करका-पात से दबकर सब छिप गया। विदेशी सभ्यता और विदेशी शिक्षा की तो यही चेष्टा थी कि इस पवित्र ज्ञान के खजाने को सर्वथा निर्मूल और नष्ट-भ्रष्ट कर डालें, किन्तु जो सत्य है उसका त्रिकाल में नाश नहीं होता। Truth is always truth दूसरे पूर्वज महर्षियों के तपोबल का प्रभाव और सत्य पर उनकी पूरी दृढ़ता कैसे व्यर्थ हो सकती है ? वे ही प्रद्योतित हृदयवाले जो पश्चिमी सभ्यता और शिक्षा से बहक महात्मा-ऋषियों के अनुभव और ज्ञान को "नानसेन्स" कहने लगे थे, अब उसी को सत्य के पाने का द्वार मान रहे हैं।

इस क्यारी की शोभा के निरीक्षण में हम कहाँ तक आपको बिलमाये रहें? इसके एक-एक पेड़ ऐसे हैं जिनका पूरा परिचय प्राप्त करने के लिए आपको महीनों और वर्षों चाहिए। चलिए, आगे बढ़िये, देखो सामने यह कवि-वाटिका की क्यारी लहलहाती हुई अनिर्वचनीय आनन्द-सन्देह मन में उपजा रही है। इसका यह एक अद्भुत प्रभाव है कि यहाँ पहुँच तुम्हारे मन-मधुप को कहीं और ठौर विचरने की इच्छा ही न होगी, न उसे इतना अवकाश मिलेगा।

नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं कांक्षति षट्पदाली।

चलते-चलते आप थक गये होंगे। इससे थोड़ा ठहर इन्हीं द्रुम-कुञ्जों में विश्राम ले तब आगे चलिए। तथास्तु (सैलानी बैठ गया, थोड़ा सुस्ता कर) व्यर्थ ही लोग अमृत को सराहते हैं, स्वर्ग में देवगण निरन्तर अमृत का एक रस-पान करते-करते ऊब गये होंगे। इस वाटिका के शृंगार, वीर, करुणा आदि नौ रस का पान करते हुए धरती पर मनुष्यों को देख अपने को धिक्कारते होंगे। कालिदास, भवभूति, सरीखे कवियों की सूक्ति का रस-पान जिन्हें स्वप्न में भी काहे को मिलता होगा।

सत्कविरसनासूर्पी निस्तुषतरशब्द शालिपाकेन।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधादासी॥

कवि ने अमृत से दयिताधर को उत्तम कहा है। सच है—अमृत निगोड़े को कहाँ इतना साहस जो कविता के दिव्य रस की तुलना कर सके। कवि ने पहले सुधादासी से दयिताधर को आदर दिया फिर कविता के रस का स्मरण कर उसे भी भुला दिया। केवल कविता ही पर क्या यह वाटिका तो रस की खान हो रही है। जिस विषय का जो रसिक है उसे अपने मन के माफिक विनोद यहाँ मिलना अति सुलभ है। वाटिका की किस-किस बात की सराहना की जाय—यहाँ की धरती की उर्वरा-शक्ति, जल-वायु की मृदुता, समय-समय ऋतु का परिवर्तन, पृथ्वी के जिस भू-भाग के जो हों वे सब अपने-अपने घर का सुख यहाँ पा सकते हैं। इसी से जो यहाँ आये

उन्होंने फिर अपनी जन्मभूमि में लौट जाने का मन न किया और जो आये अब अपना स्वत्व ही इस पर स्थापित करते गये। अपनी पहिले की जर्रारी-बर्रारी को तिलांजली दे उन्हीं के समकक्ष बन गये जिनका मांस और रुधिर अनादि काल से इस वाटिका की भूमि से संलग्न है। कदाचित् मेदिनी पृथ्वी का नाम इसी से पड़ गया कि पृथ्वी उन्हीं की मेदा-चर्बी की बनी है अस्तु, इस वाटिका का वर्तमान दृश्य देख यह निश्चय हो गया कि—

प्रायेण समग्र्यविधौ गुणानां पराङमुखी विश्वजनस्य वृत्तिः।

विधाता समग्र गुण एक ही में रखने का बड़ा विरोधी है। जैसी यह सुललित वाटिका मन को रमाने वाली थी भूमि समस्त गुण-सम्पन्न और फूल-फल भी सुगन्धित और मिठास में अद्वितीय थे वैसा ही इन फूलों में आत्मगौरव क्यों न आया? इनको अपने रूप का परिचय बिल्कुल न रहा न जानिये कब से ये अपने को भूले हुए हैं। हमें खेद है कि अपने पास ही जापान की वाटिका का नवाभ्युत्थान देख इन्हें अपने पूर्व-रूप-सम्पादन का हौसिला क्यों नहीं होता है? अनाथनाथ! तू जो इन्हें सनाथ किया चाहे तो निमेप-मात्र से सब कुछ कर सकता है। सब तेरे अधीन हैं।

नवम्बर, १९०५

मेला-ठेला

मसला है—

काजी काहे दुबले, शहर के अन्देशे।

जमाने भर की फिकिर अपने ऊपर ओढ़े कुढंगों के कुढंग से कुढ़ते हुए मनीमन चूरंचूर नहूसत का बोझ सिर पर लादे पंच महाराज उदासीन घर बैठे रहा करते थे। आज न जानिये क्यों मेला देखने का शौक चर्राया तो दो घड़ी रात रहते भोर ही को खूब सज-धज पुराने ठिकरे पर नई कलई की भाँति तेल और पानी से बदन चुपड़ घर से निकल चल खड़े हुए। मेला क्या देखने गये मानों अपना मेला औरों को दिखाने गये। खैर पढ़नेवाले जैसा समझें। एक ओर से निपटते चलिए—"चलो, हटो बचो", "सभा में दोस्तो इन्दर की आमद है" "मस्तो सम्हल बैठो जरा हुशियार हो जाओ।" झिगरू साव की सवारी है। खड्डेदार बुल्ला सेर भर मांस हो तो रफू हो, उस पर खूबसूरती और नजाकत के नखरे किससे देखे जायँ? अबे ओ! कोचवान सोता है क्या? जरा चेत कर जोड़ी हाँक। जानता नहीं मेला है, झमेला है, तमाशबीनों की भीड़ का रेला है। यह दूसरे कौन हैं—राय दुर्लभचन्द के पोते राय सुलभचन्द।

"नाम लखनचन्द मुँह कुकरै काटा।"

मानों मांस का लोंदा थूहा-सा रक्खा हुआ। विधाता की अद्भुत सृष्टि का एक नमूना। किस मतलब से गढ़ा गया, कौन बतला सकता है? कुम्हार का बर्तन होता, बदल लिया जाता। हाँ जाना, ब्रह्मा महाराज इसको गढ़ते समय दोचित्त हो दुबिधे में पड़े थे या:—

"लुक ऐण्ड लाफ"—हाथ में लिये रहे हों।

अब यह दूसरे कौन आये—रियासत की गठरी का बोझ सिर पर लादे राय कम्बख्तचन्द के वलीअहद बदबख्त बहादुर। जरदी मुँह पर छाई

हुई सींकिया पहलवान क्यों हो रहा है ? क्या इसको बदन सुखाने वाला रोग हो गया है ? नहीं-नहीं ऐयाशी और शराब ने इसका यह हाल कर डाला। कुन्दे नातराश यह दूसरा इसके साथ कौन है—नरकू महाराज के सगे नाती अक्षर से भी कभी भेंट हुई है कौन काम है ? न हम पढ़े न हमारे आजा। पढ़ैं-लिखैं क्या सुआमैंना हैं पढ़ा-लिखा तू पंच।

बह-बह बहै बंलवा बैठे खाय तुरंग।

हमारे कुल में पढ़ना-लिखना नहीं सोहता। हमारे बाप के छोटे ताऊ गठरी भर पोथी पढ़ डालिन रहा। जवानै उजहि गये। तब से हमारे तात चरण का सिद्धान्त हो गया है—

हम पंचन के वंश में कोई नहीं विद्वान।
भांग पियैं गांजा पियें जय बोलैं जिजमान॥

चपलान् दुरगान्परिनर्तयतः पथि पौर जनान्परिमर्दयतः॥

ये कौन हैं—सींग पूँछ कटाय बछड़ों में दाखिल अहल योरप पूरे जेण्टिल-मेन शाह पनारूदास

बाबू न कहना फिर कभी मिस्टर कहा जाता है हम।
कोट पतलून बूट पहने टोकरी सिर पर धरे।
साथ में कुत्ते को लै के सैर को जाता है हम।
दियानतदार अपने कौम में मशहूर हैं।
सैकड़ों लोगों से चन्दा लेके खा जाता है हम।
खाना-पीना हिन्दुओं का मुझको खुश आता नहीं।
बीफ, काँटा, चमचा से होटल में जा खाता है हम।
भांग, गांजा, चर्स, चण्डू घर में छिप-छिप पीते थे।
अब तो बे-खटके हमेशा ह्विस्कि ढरकाता है हम।

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा पतित्वा धरणी तले।
उत्थाय न पुनः पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

एकेन शुष्क चणकेन घटं पिवामि गंगां पिवामि सहसा लवणाद्रकेण।

सच है—

एकां लज्जां परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्।

शाबास गाजी मर्द ! अच्छे उजागर कुल की कलँगी पैदा हुए।

"वंशस्याग्रे ध्वजो यथा।"

लू-लू है जाने दो, इस मुछन्दर को। लो इधर ध्यान दो छल्लेदार बालों में तेल टपकता हुआ, पान के बीड़ों से गाल फूला मानों बतोड़ी निकली हो, आड़ा तिलक—मुँह चुचुका, आशिकतन, हिमाकत, नजाकत शानोशौकत में लासानी। घर में भूँजी भाँग भी नहीं, पर बाहर मानों दूसरे नवाब शाह वाजिदअली। अले, खिलौनेवाले बाबू साहब को खिलौना दे। चटुआ भी तेरे पास है? दे बाबू साहब चटुआ चाटेंगे। चरखी है। क्या लेगा? उः पाकेट खाली।

दान-पुण्य को कौड़ी नाहीं शिवकोटी को घोड़ा।

जाने दो छोड़ दे बालक का पिण्ड, ओ खिलौनेवाला जा। क्यों किसी की पोल खोल फजीहताचार करता है? आहा कहीं सुर्ख कहीं बैंगनी कहीं नीली कहीं पीली भाँति-भाँति के रंग की बदली घटा की घटा किधर से उमड़ी चली आ रही है। यह कौन हैं—बी० हुस्सो और यह दूसरी बी० बानो। बी० खानो, मखानो, गुमानो, कमानो, अमीरों की इमारत, शहर के शहरीयत की शान, बिसनी आशिकतनों की प्रान और यह दूसरी कौन है बी० चुड्डो। अरे ओ बी० चुड्डो अंजनगिरि पर्वत की श्यामता का अनुहार करनेवाले तुम्हारे अंग-प्रत्यंग की शोभा पर तन-मन-धन सब वारे हुए ये मुफलिस कल्लांच खराब खस्तह मुहब्बत के फन्दे में गिरफ्तार, अपना सब कुछ समर्पण कर ठिकरा हाथ में ले दर-दर भीख माँगने लायक हो गये। अब और क्या चाहती हो? शरम को शहद बनाय चाट बैठे, बिना बेहयाई का जामा पहने आशिक के तनजेब नहीं, गाढ़े इश्क के आशिक हैं, जुदाई में मल-मल के साथ रहते हैं। अफसोस जर दिया जनानों को माल पास न हुआ, नहीं तो कौआ परियों की फौज खड़ी कर आप उसके कप्तान बनते। या तो किसी समय मटियाबुर्ज के नवाब थे या इस समय यही देख पड़ते।

आहा आप हैं—पण्डित अमुक-अमुक। पण्डितजी, नमस्कार। यह दूसरे कौन हैं—बाकान्त देव—कि महाशय, भालो बासेन। और यह बाबू फलाँ-फलाँ फलाँ। मिस्टर सो एण्ड सो। गुड मार्निंग मिस्टर जानबुल। हौ डू यू डू? और यह सेठजी। जै गोपाल सेठजी और यह आप हैं! ओः खो! आप क्या हैं, बला हैं, करिश्मा हैं—तिलिस्मा हैं—फिनामिला हैं—आश्चर्य अद्भुत तथा लोकोत्तर वस्तु का सन्दोह हैं। उठती उमर जग जानी जवानी के उफान में अन्धे न जानिये कितने कण्टाप और पादाघात सह तब अनंग के अखाड़े की पहलवानी प्राप्त की है। गरज कि ऐसे कितने कुढंगों का ढंग देख पंच महाराज ऊब गये और मन में दृढ़ संकल्प कर लिया कि मेले-ठेले के कभी डाँड़ न जाना। पछताते हुए घर लौट आये।

जून, १८९९

दल का अगुआ

दल या जमात का अगुआ सदा एक होता है, दो-चार नहीं। जहाँ दो-चार अगुआ बनते हैं और वे अपनी प्रतिष्ठा और अपनी राय सबके ऊपर रक्खा चाहते हैं, वह जमात छिन्न-भिन्न हो जाती है। सब लोग तितिर-बितिर हो उस दल को कायम नहीं रक्खा चाहते। इसी बुनियाद पर कहा गया है:—

सर्वे यत्र विनेतारः सर्वे पण्डित मानिनः।
सर्वे महत्त्वमिच्छन्ति तद्वृन्दमवसीदति॥

जहाँ सभी अगुआ बनते हैं, सब लोग अपने को बुद्धिमान् मानते हैं, एक ही आदमी की अक्लि पर रहनुमा नहीं हुआ चाहते, सभी अपना-अपना बड़प्पन चाहते हैं, वह जमात मुसीबत में पड़ जाती है। कदाचित् इसी बात का ख्याल कर किसी ने कहा है:—

न गणस्याग्रतो गच्छेत्॥

किसी दल का अगुआ न हो, अर्थात् पहले किसी बात का नमूना आप न दिखलावें। इसलिए कि उस काम के बन जाने पर नमूना बननेवाले को विशेष लाभ नहीं। और जो उसके नमूना दिखलाने से काम बिगड़ गया तो सब लोग उसी की फजीहत करने लगते हैं। पर यह तो क्लीवता और नामर्दी है। सैकड़ों बुराइयाँ हमारे समाज में इसी से नहीं मिटाये मिटतीं। किसी को इतना साहस नहीं कि पहले खुद कर दिखावें। अच्छे पढ़े-लिखे लोगों में इतनी हिम्मत नहीं है तब अपढ़ बेचारों का क्या कहना। जैसे बाल्य-विवाह के सम्बन्ध में किसी को साहस नहीं होता कि रजोदर्शन के उपरान्त कन्या का विवाह करने में नमूना बने। कान्फरेन्स और कमेटियों में बहस और विवाद बहुत करेंगे; पर करके कुछ न दिखावेंगे। सच

मानिये, बाल्य-विवाह की जड़ कभी नहीं कट सकती, जब तक कन्या में रजोदर्शन की कैद कायम है। अस्तु,

अब यहाँ पर विचार यह है कि अगुआ कैसा होना चाहिये ? अगुआ में सबसे बड़ी बात यह है कि वह अपने मन से कोई काम न कर गुजरे, जब तक सबकी राय न ले ले और सबों का मन न टटोल ले। दूसरे उसमें शान्ति और गमखोरी की बड़ी जरूरत है। जिस काम के बनने पर उसका लक्ष्य है उस पर नजर भिड़ाये रहे, दल में कुछ लोग ऐसे हैं, जो उसके लक्ष्य के बड़े विरोधी हैं और वे हर तरह पर उस काम को बिगाड़ा चाहते हैं। अगुआ को ऐसी-ऐसी बात कहेंगे और खार दिलवावेंगे कि वह उधर से मुँह मोड़ बैठे और क्रोध में आप सर्वथा निरस्त हो जाय। ऐसी दशा में यदि उसमें शान्ति और गमखोरी न हुई तो बस हो चुका काहे को वह उस काम के साधने में कभी कृतकार्य होगा। फिर अगुआ अपने सिद्धान्त का दृढ़ और मुनसिफा मिजाज हो। कहावत है—"सुनैं सब की करैं अपने मन की।" क्षुद्र से क्षुद्र का भी निरादर न करे, अपने मन्तव्य के विरुद्ध राय देनेवालों को ऐसे ढंग से उतार लावे कि "साँप मरै और लाठी न टूटै", सिवा इसके अगुआ को सर्वप्रिय हर-दिल-अजीज होना चाहिये। जब तक सब लोग उसे प्यार न करेंगे और चित्त से उसका आदर न करेंगे तब तक उसके कहने को स्वीकार कैसे कर सकते हैं ? किसी का आदर तभी होता है जब मन में उसको रहने की जगह हो।

अगुआ के लिये चरित्र का शुद्ध होना बड़ी भारी बात है। जो चरित्र के शुद्ध नहीं जिनका चाल-चलन दगीला है वे कैसे दूसरों के चित्त पर असर पैदा कर सकते हैं ? विशेष कर सामाजिक मामलों में जो समाज का अग्रणी हो, उसे चरित्र का पवित्र होना ही चाहिये। जैसे धर्म सम्बन्ध में हमारा अगुआ गुरु होता है। बहुधा गुरु वही किया जाता और माना जाता है जिसका चरित्र कहीं से किसी अंश में दूषित न हो—

"वर्णनां ब्राह्मणो गुरुः" चारों वर्ण में ब्राह्मण गुरु या अगुआ है। तो निश्चय हुआ कि ब्राह्मण निर्दूषित चरित्र हो। इस समय ब्राह्मण जो

दूषित चरित्र हो गये तो और लोगों को उन पर आक्षेप करने का मौका मिल गया है। और और प्रान्तों की हम नहीं कहते, हमारे यू०पी० में इस समय सबों की रुचि के समान अच्छे राजनैतिक अगुआ की बड़ी जरूरत है। हमारे नई उमंग वाले बिना किसी अगुआ के बिलबिला रहे हैं, कोई हाथ पकड़ उन्हें चलाने वाला नहीं।

निस्संदेह अगुआ होने का काम बड़ा टेढ़ा और बिना सिंहासन का राज्य है। राजा का अटल और सुस्थिर राज्य तभी होता है जब सबों को प्रसन्न करता हुआ प्रजा का मनोरंजन हो। वैसे ही अगुआ का रोब और दबदबा तभी रहेगा जब वह सबों के मन की करेगा, नहीं तो एक से मीठा दूसरे दल से खट्टा बना रहेगा और जिस काम को करना चाहता है, कृतकार्य उसमें कभी न होगा।

फरवरी, १९०८

रस में फीकापन कब आता है

रसीली वस्तु, रसीली बात, रसीली तबीयत में रस ज्यों का त्यों बना रहता है, किन्तु दशा के परिवर्तन में वही चीज या वही बात बेमजे या बद-जायके हो ऐसी फीकी मालूम होने लगती है कि न जानिये पहिले की-सी मिठास कहाँ बिलाय जाती है। बहुधा तो रस के आस्वाद में सुख का अनुभव तभी तक होता है, जब तक मन में किसी तरह का उद्वेग, चिन्ता या उतावली नहीं स्थान पाती। बुद्धिमानों का सिद्धान्त है—यह संसार जो विष का एक वृक्ष है इसमें दो फल अमृत के तुल्य फलते हैं—काव्यामृत के रस का आस्वादन और सज्जनों के साथ सहवास।

संसारविषवृक्षस्य द्वेफलेह्यमृतोपमे।
काव्यामृतरसास्वादः संगतिः सुजनैः सह।

हम कहते हैं, सज्जनों के सहवास में और काव्यामृत में भी रस तभी तक है जब तक चित्त चिन्ताग्रस्त हो खिन्न और उद्विग्न नहीं हुआ। प्रसिद्ध आशुकवि जिनमें ऐसी ईश्वर की देन पाई गई कि पलक भँजने में चाहे देर लगे पर उनकी लोकोत्तर प्रतिभा को उत्तम से उत्तम रसीली कविता गढ़ते देर नहीं लगती, जिनका दिमाग क्या टकसाल घर है। इसी तरह पर विद्वान्, दार्शनिक और मैथमेटिशियन जो दर्शनशास्त्र के अत्यन्त सूक्ष्म और बारीक विचार अथवा मैथमेटिक्स के कड़े से कड़े सवाल चुटकी बजाते हल कर डालते हैं वे भी चिन्ताग्रस्त उद्विग्न दशा में ऐसे शिथिल पड़ गये और उनकी पैनी बुद्धि यहाँ तक गोठिल हो गई कि काम पड़ने पर वह प्रतिभा न जानिये किस अन्धे तहखाने में जा छिपी, मानों वाक्स्तम्भ-सा हो गया।

इससे यही सिद्ध हुआ कि मनुष्य को रसीली बातों में भी रस का

आस्वाद या अनुभव केवल दशा के परिवर्तन पर निर्भर है। चढ़ती जवानी है; धन की कमी नहीं, लाखों लुटायें तो भी घटने का नहीं; सब भाँति स्वच्छन्द निरंकुश किसी की दाब नहीं; निडर निःशंक हो आमोद-प्रमोद की ओर झुक पड़े। विलासिता में अपना औवल दरजा समझने लगे, प्याले पर प्याला उड़ता है, कभी दम भर के लिये भी बाबू साहब शरूर से खाली नहीं रहते। अपने शहर की तो कोई बात ही नहीं, देश-विदेश में भी जहाँ तक हुस्नपरस्ती की हद है, अपने भरसक नहीं छोड़ते। एक तो किसी गिनती ही में नहीं जब तक दो-चार लोनाई और सौन्दर्य में एकता न मिले, तृप्ति नहीं। एक साथ ऐसा उतारू हुये कि दो ही चार वर्ष में निचुड़ पीले आम पड़ गये, उधर उमर ढल चली, सब भाँति निःसत्व और क्षीण हो गये, गाल चुचक गये, आँख की पलकों पर गड्ढे पड़ गये, जिनमें पसर भर चना अमा जाय। रोज खिजाब करते हैं, दिन में चार दफा दवा चाटते है, सेरों मोती घोटकर खा गये, पर पहले का-सा रस नहीं आता। जिसके पाने का हजार तदबीर और यत्न करते हैं, कुछ कारगर नहीं होती। तेल और पानी में नित्य देह चुपड़ते हैं कि पुराने ठिकरे पर नई कलई की भाँति फिर जवान मालूम हों, पर असली बात नहीं आती, वरन् फीकापन बढ़ता ही जाता है।

असंख्य धन है, राज है, पाट है, सब तरह की हुकूमत हासिल है, सात खण्ड का सतमहला राजभवन-सा मकान है, किन्तु चिराग बुझ रहा है इस सबका वर्तने वाला आगे कोई दीखता नहीं। सब-सब उपाय कर थके; टोना-टनमन, पूजा-पाठ, जपतप, गंगा-बनारस, जिसने जो उपाय बतलाया कोई न छोड़ रक्खा, दो-दो तीन-तीन ब्याह भी किये कि अब भी कोई एक वंश का अंकुर हो, पर करतार ने कृपा न की, पुत्र का मुँह देखने में न आया। राज-पाट, धन-दौलत सब फीकी मालूम पड़ने लगी, किसी में कहीं रस नहीं मिलता; जिन्दगी का दिन-भरना पड़ा। कौड़ी-कौड़ी जमा करते रहे, पेट भर अन्न न खाया, फटा-पुराना, मैला-कुचैला कपड़ा पहिन किसी तरह तन ढाँप अत्यन्त कदर्यतापूर्वक पार कर लाखों जमा किया, एकान्त में बैठ जब उन रुपयों को गिनता है, आनन्द में मग्न फूला नहीं

समाता; अपने में भाग्यमानी की सीमा मानता है। अकस्मात् कोई ऐसा ईश्वर का कोप हुआ कि चोर सेंध लगाय सब धन चुरा ले गये, या कोई दूसरा धक्का लगा कि सब का सब गायब हो गया। उस समय इस कृपण के जी से पूछना चाहिये जिसे यह जगत् जीर्ण अरण्य-सा बोध होता है; केवल प्राणमात्र शरीर से जुदा नहीं होता और सब-सब दशा इस कदर्य की हो जाती है।

ऊंचे कुल में जन्म है, सामान्य रीति पर असन-वसन, खाना-पीना अच्छी तरह पर निभता जाता है, किसी बात की मोहताजगी नहीं है, परिवार भर में बड़ी साहुत और एका है, बाहर शिष्टाचार में बात सब भाँति बनी है, दस भले आदमियों में कदर है। पण्डितजी, लालाजी, शाहजी जो हों, समाज में अगुआ, सरपञ्च और सिरताज समझे जाते हैं पर घर में स्त्री ऐसी कुकाला, कलहकारिणी, कुभार्या आई कि हवा से लड़ती है, घर भर का नथुनों में प्राण आ लगा। कुनबा भर के आदमियों को तोड़-फोड़ अलग कर दिया; ऐसा विद्रोह फैला कि प्रत्येक के मन में गाँठ पड़ गई जो कुछ एका था कि बंधी मूठी रहने से फूटी आंजो कोई नहीं जानता था, भण्डश्राद्ध हो गई, सब भरम खुल गया। लालाजी के भीतर की चोट भीतर ही सालती है, जिन्दगी बेमजे हो गई—

सच है—**जन्म नष्टं कुभार्यया।**

घर के लोगवा यों कहैं मियाँ जियैं अरु बरकत है।

मियाँ की गति मियैं जानैं साँस लेत जी सरकत है॥

व्यापार करते हैं; बड़ी भारी दूकान है, लाखों का वारा-न्यारा महीने में होता है, सिरे-सराफ में गिनती है, प्रकृति और आकृति दोनों में पूरे पिशाच; दूसरे की जमा कहो सर्वस्व गटक बैठे; अपनी एक कौड़ी भी निकलती हो तो कांई-छू-कांई-छू कर दिमाग चाट डालें। व्यापारी चाहता है कि हम सेठ जी की लिपड़ी बरताना कर लें और सेठ जी इसी ताक में हैं कि यह खसट जाने न पावे, जहाँ तक हो सके इसका ऐसा वस्त्र-मोचन कर लें कि

तसमा न बचे। दल्लाल अपनी ही घात में है, यह हजरत व्यापारी और सेठ जी दोनों को गावली दे अपना मतलब गाँठ चम्पत हुआ चाहते हैं। फकीर चन्द भिखारीदास की २५ हजार की हुण्डी ५४ मिती को ली थी, मिती पुरती है, रुपया तैयार नहीं है, आज नहीं देते, दिवाला पिटता है, मुनीम और गुमास्तों पर हाँव-हाँव, खाँव-खाँव , कोई कुछ बोला काटने को दौड़े, किसी की बात नहीं पोसाती। दूकान का टाट उलट मुँह छिपाये सोच रहे हैं, अब संसार में क्या मुँह दिखावेंगे, बात गई तो जी ही के क्या करेंगे, ऐसी जिन्दगी से तो मौत भली। जो कुछ सेठजी का जेवर था सो सब बेंच अभी चार दिन हुये तिनकौड़ीमल गरीबदास का १५ हजार का सट्टा रख लिया था; मिती पूजने पर ज्यों-त्यों कर दे इज्जत बचाया, अब जेवर भी रहा, क्योंकर बात रहे।

बरसों तक दिनों रात पढ़ते-पढ़ते आँखें कमजोर पड़ गई, चश्मे की हाजत हो गई। "नई जवानी माँझा ढील।" शेखचिल्लियों का-सा मनसूबा गाँठते हैं, अब की बार इस इम्तिहान से पार हुये तो दूसरे साल वकालत या इंजीनियरिंग के लिये कोशिश करेंगे, औवल हुये तो तमगा पावेंगे; बड़े-बड़े लायकों में शुमार होगा। इम्तिहान देने गये; फेल हो गये, सब जोश उतर गया, उमंग जाती रही, महीनों तक संसार की किसी बात में मजा नहीं मिलता, मायूसी की हालत में पड़े-पड़े सोया करते हैं,सोख्ती जाती ही नहीं।

नाती हैं, पोते हैं, परपोता हुआ, सोने की सीढ़ी चढ़े, बड़भागियों की लिस्ट में अपना भी नाम दर्ज कराये हुए हैं। आज इसकी मँगनी है, कल उसका ब्याह है, लड़की के लड़का हुआ रोचना आया, जन्ना सजाने की फिकिर हुई, मोहमयी प्रमाद मदिरा के पान से उन्मत्त यह जीर्णजरद्गव सौभाग्य की सीमा माने हुए हैं, अकस्मात् एक ऐसी हवा बही कि एक-एक कर कुनबा छीजने लगा, दो-चार तरपर ऐसी गमी हुई कि बड़भागी बनने का सब नशा उतर गया, जीवन अपाढ़ समझने लगे।

हमारे वाइसराय गवर्नर जेनरल साहब महाराणी के प्रतिनिधि कुल

स्याह सफेद के मालिक जहाँ जाते हैं, लोग हाथों-हाथ लेते हैं, बड़ी अच्छी कमाई कमा रक्खी है, जिसका फल इस जन्म में भोग रहे हैं। हिन्दुस्तान ऐसे शैतान की आँत से देश का शासन जिसमें सैकड़ों जुदे-जुदे कौम के लोग बसते हैं, किसी बात में जरा चूके, लेव-देव कर ली गई, अखबार वालों को जीट उड़ाने का मौका मिला। हिन्दुस्तानियों का किसी बात में पक्ष किया, सिविलियनों के चेले पायोनियर ने गुर्राना शुरू किया, उधर बिलाइत वाले जुदा ही चाप चढ़ाये हुए हैं, उनके मन की नहीं करते, नालायक समझे जाते हैं। ऐसी-ऐसी कितनी झंझटें उनके लिये तैयार रहती हैं। तब क्योंकर कहा जा सकता है कि उनका जीवन सर्वथा नीरस नहीं है?

हमने समझा था, एडिटरी का काम सबसे आराम और स्वच्छन्दता का है, समय पर पत्र निकाल निर्द्वन्द्व हो बैठे रहे। समाज में मान और प्रतिष्ठा के अधिकारी गवर्नमेंट के बड़े-बड़े राजनैतिक विचारों में राय देने को पाँच सवारों में एक हम भी। एडिटरी की झोंक में कभी को एँड़ी-बेंड़ी कोई बात लिख मारी, जो सरकारी कानून के खिलाफ पड़ी, या गवर्नमेंट के कर्मचारी हाकिमों की पालिसी उससे दूषित होती है, रिपोर्ट हुई, मैजिस्ट्रेट साहब ने तलब किया। उस समय जो प्राण-संकट होता है वह जी ही जानता है, एडिटरी का इतना जोश न जानिये कहाँ बिलाय गया, जिन्दगी फीकी मालूम पड़ने लगी। लोग समझते होंगे, पण्डितजी बड़े सुखी हैं, बेहने-धुने का काफी से ज्यादह मिलता है, नगावड़ी बैल से बैठे-बैठे पागुर किया करते हैं और ऐंड़ाते रहते हैं। यह कोई क्या जाने कि यजमानों का नाव सम्हालना कैसी भारी मुहिम है। जिनकी झिड़की और फटकार से बचे रहने की कोशिश जिन्दगी को फीका कर देने के लिये क्या कम तरद्दुद है। इत्यादि, इसके अनेक उदाहरण हैं, जहाँ तक चाहिये, पल्लवित करते जाइये, चुकेगा नहीं।

नवम्बर, १८९२

परिपक्व बुद्धि या पक्का आदमी

दुनियादारों में वे जो चलता-पुरजा कहे जाते है, उनमें "पक्का आदमी" ऐसा एक प्रचलित वाक्य है। जिस किसी के लिये यह वाक्य प्रयोग किया जाता है, उसकी यह एक बड़ी तारीफ समझी जाती है, जिसके मतलब यह हुये कि वह मनुष्य संसार के और सब लोगों में किसी बात में किसी से कम नहीं है। यह पदवी उसी को दी जाती है, जो अपने घर-गृहस्थी के काम में अच्छी तरह निपुण हो, पुत्र-कलत्र, भाई-बन्धु को उससे किसी तरह का क्लेश न पहुँचता हो और बाहरी लोगों के साथ भी हिलामिला हो। फजूल खर्च न हो, चटोरा न हो, आदमी टाँकेटूक है तो खर्च भी बढ़ा हुआ न हो, जिस बात मे अपने को सरोकार नहीं उसमें दाल-भात में मूसलचन्द न बनता हो। सारांश यह कि सदा कामकाजी बातों में फँसा रहता हो। संसार में ऐसे को सब कोई पक्का आदमी इसलिये समझते हैं कि इसने अपना जीवन बहुत अच्छी तरह पार किया।

अब हम एक दरजा आगे बढ़ते हैं। ऐसे लोगों में यदि कोई इस ढंग का हुआ कि संसार के जितने काम जिसको कर्त्तव्य (Duty) कहते हैं, करता ही है, किन्तु किसी एक बात में उसकी विशेष रुचि है अर्थात् मुख्य वस्तु में अपनी विशेष रुचि प्रकट करता है; जैसे टोपी या पगड़ी एक नये ढंग की देंगे, कोट एक नए काट-छाँट का पहनेंगे, साधारण बातचीत में भी बिना कुछ मजाक के न बोलेंगे, इत्यादि। परिणाम इसका यह होता है कि ऐसे लोग अपने पड़ोसियों में या मित्र-मण्डली में एक लक्ष्य हो जाते हैं। यहाँ तक कि लोग हँसी-दिल्लगी में उसका नाम ही वैसा रख लेते हैं; अर्थात् फलाने फलानी तरह की पगड़ी या टोपी वाले, इत्यादि-इत्यादि। यदि उनसे पूछिये फलाने साहब इस तरह की टोपी क्यों देते हैं या इस फैशन के काट का कोट क्यों पहनते हैं, तो लोग हँसकर कहेंगे—"सिड़ी है। क्या

उन लोगों की टोपी या पगड़ी उनसे कुछ बुरी है" या बाजे लोग कहेंगे— "साहब, उन्हीं से पूछिये जो ऐसे फैशन की टोपी देते हैं"—अब यदि उन्हीं महाशय से इस फैशन की छिलावट का कुछ अर्थ पूछिये तो निस्सन्देह वे अपनी पसन्द की हुई वजा में कुछ न कुछ भलाई अवश्य बतलावेंगे और सर्व साधारण की टोपी या पोशाक में यह ऐब है। इसलिये उस दोष के दूर करने को अपने वास्ते मैंने यह फैशन रक्खा है।

अब हम एक श्रेणी के लोगों को और उदाहरण में लेते हैं, और वे ये हैं जो सामान्यतः और सब तरह से अच्छे हैं। पर उनकी किसी एक बात की इतनी ललक है कि हर एक बात में और हर एक मौके पर अपनी उसी ललक के लिये जान तक देने को मुस्तैद हैं। मान लीजिये, एक महाशय ऐसे हैं कि उन्हें विधवा-विवाह या स्त्री-शिक्षा की धुन बँधी है और कोई बात विधवोद्व्याह या स्त्री-शिक्षा में उन्होंने ऐसी देखी है, कोई गुण इन दोनों में ऐसा पाया है जिससे उनकी समझ से हिन्दुस्तान की यावत् बुराइयों का संशोधन हो सकता है। इसलिये हर एक मौके पर अपनी साधारण बातचीत में भी बिना उसके गुण प्रकट किये नहीं रहते। भरसक इस बात में कुछ करके दिखाने से उदाहरण बनने को भी उपस्थित हैं। अपनी ताकत भर रुपया खर्च करने में भी न रुकेंगे। यदि उनकी बात सुनिये और उसे अच्छी तरह तौलिये तो संभव है कि कोई नई युक्ति उसमें अवश्य पाइयेगा कि जो वे कहते हैं अत्यन्त पुष्टता के साथ कहते हैं जिसमें एक तरह का जोर पाया जाता है। यद्यपि उस बेचारे को इसका कोई जरिया नहीं है कि और लोग भी उसी समान कोटि के हो जायँ, पर उसकी बात जो सुनता है, कोई दोष उसमें नहीं पाता। किन्तु यदि अपने कहने के अनुसार वैसा आचरण भी करने लगा, तो लोग उसको क्या कहेंगे। जब तक खाली बात-चीत और जबानी जमाखर्च था तब तक तो लोग बहुत कुछ नहीं समझते थे, पर जब अपने आचरणों में भी उसने उस उद्योग को उठा लिया तब लोग कहने लगते हैं, "इनको इससे क्या मतलब था? इस बात के लिये इतना कष्ट उठाने से इनको लाभ क्या?" अस्तु।

यदि संसार का यही क्रम होता कि लोग प्रश्न ही मात्र से सन्तोष कर लेते हैं तो भी कोई हर्ज़ न था। खेद का विषय यह है कि लोग उसके बारे में खाली प्रश्न ही नहीं पूछते, वरन् अपनी एक तरह की राय कायम कर लेते हैं और उसका बहुत-सा धन, समय तथा शारीरिक और मानसिक शक्तियों का व्यय होना लोगों के बीच संसार में सराहना नहीं पाता।

इसके पहिले कि हम आगे बढ़ें और एक तीसरी श्रेणी के लोगों के बारे में कुछ लिखें, सामान्य रीति पर हमने जिन लोगों का चित्र खींचा है, उस पर विशेष समालोचना लिखना चाहते हैं। और वह यह है कि चित्र उन्हें संसार के सर्वसाधारण लोगों से अलग रखने का एक द्वार है, जिसका कारण यह मालूम होता है कि कुछ लोगों में सूक्ष्मानुसंधान करनेवाली विवेचना शक्ति और अनुभव इतर सामान्य लोगों की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण और उत्कृष्ट होता है, जो बात उनमें जो निरे दुनियादार हैं कहीं छू तक नहीं गई, जिसका परिणाम यही होता है कि वे लोग जिनमें सूक्ष्मानुसंधान की विवेचना-शक्ति तीखी से तीखी है, ऐसे पुरुष संसार में चट अलग हो जाते हैं और सांसारिक लोग भी ऐसे को सिड़ी, सौदाई, बेवकूफ इन नामों से पुकारने लगते हैं। क्यों उन्हें सिड़ी कहते हैं सो भी हम दरसा चुके हैं कि साधारण लोग उनके उद्देश्य और महत्त्व को समझ नहीं सकते इसलिये उनके बारे में मनमानी राय गढ़ लेते हैं, जिसके गढ़ने में हर एक आदमी स्वच्छन्द और किसी के अधीन नहीं है। सारांश यह कि दुनियादार या लौकिक मनुष्यों से अलौकिक या लोकोत्तर मनुष्य में जो भेद है उसकी जड़ एक ऐसे भ्रम में उलझी है जिसका सुलझाना या हल करना असम्भव है। इसी से कवि की यह उक्ति है—

लोकोत्तराणां चेतांसि कोनुविज्ञातुमर्हति।

सच पूछिये तो इसके सुलझाने के माने ही यह होंगे कि संसार के जो नियम आज तक चले आये हैं, आप उनको उलट कर रख दो। ऐसे लोग जो अन्ध परम्परा से अलग हों लोगों के हजारों ताने सहते हैं और भेड़िया-

धसान के वीच बदनाम हैं, उनको इस सब का प्रतिफल क्या? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि ऐसे मननशील लोकोत्तर महात्माओं के लिये क्या यह कोई थोड़ा लाभ है कि उनके मनन की अविच्छिन्न "धारा में दुनियादारी के पचड़े में न फँसने के कारण जरा भी विक्षेप नहीं होने पाता।" यह क्या कोई लाभ ही नहीं है?

यहाँ तक तो हमने इस विभेद का दुःखात्मक चित्र खींचा। अव आगे बढ़ते हैं। ऊपर जो उदाहरण दिया गया है, वह इसी बात का कि लोकोत्तर और लौकिक मनुष्यों में जो भेद है, वह केवल किसी विशेप कारण से है। अब यदि कोई ऐसा मनुष्य हो जो स्वभाव ही से भोली प्रकृति का है, दुनियादारी के छक्के-पंजे नहीं जानता, सव से निराला है, अर्थात् उत्तमोत्तम गुण उसमें स्वभाव ही से ऐसे हैं जो उसकी समस्त ज्ञान-इन्द्रियों के प्रधान विपय हैं। मान लीजिये एक मनुष्य ऐसा है जिसको आत्मगौरव का बड़ा ख्याल है, औदार्य उसमें पल्ले सिरे का है, महानुभूति, लोगों के साथ हमदरदी, मैत्री और प्रेम प्राणी मात्र से है। अब आप समझ सकते हैं कि ऐसे एक महात्मा पुरुष की सूक्ष्मानुसंधान करने वाली विवेचना-शक्ति और अनुभव कितना तीक्ष्ण होगा और सर्व-साधारण के लिये वह कितना सुख-दुःख अनुभव कर सकता है।

दुनियादार लोग जब उसी को सिड़ी मान लेते हैं जिसमें वस्त्र के पहनाव में और कोट आदि की काट-छाँट में निराली पसन्द है, तब इसे तो महापागल समझेंगे। क्योंकि उसमें तो वे कोई ऐसी बात पाते ही नहीं, जिसके तले तक वे डूब उसको थहा सकें, जैसे अपना लाभ या स्वार्थ-साधन के बदले में उसमें आत्मत्याग (Self-Sacrifice) का जोश पाते हैं, केवल अपना ही फायदा देखने के बदले परोपकार की धुन उसे बँधी हुई है, संसार के अनेक सुखों में अपने को फँसाने के एवज विषय-वासना की ओर से उसे घिन है। हमारे यहाँ के योगसूत्र के जो अनेक यम-नियम हैं, उनका स्वाद ऐसे ही लोग चक्खे हुए हैं। ऐसे ही स्थलों में यह बात स्पष्ट होती है कि जो लोग बुद्धि के ऊँचे शिखर पर चढ़े हुए हैं उनके चित्त

की विमल शांति और परम सुख की दशा यदि किसी से मेल खाती है तो उन्हीं से जो सर्वथा अल्पज्ञ या मूढ़मती हैं। इसी से यह श्लोक है—

यश्च मूढ़मतो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः।
द्वाविमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

अगस्त, १८९९

एकान्त ज्ञान

एकान्त-ज्ञान वह ज्ञान कहलाता है जिसके द्वारा मनुष्य किसी एकान्त-स्थल में अपनी ठीक दशा को सोच-विचार के अपने गुन-अवगुन का आप ही आप वर्णन कर प्रसन्न होता है या दुःख करता है। एक दिन पंच महाराज देश-विदेश बहुत दूर-दूर घूमते यमुना तट पर जा पहुँचे। वहाँ देखा तो एक ज्ञानी पंडितजी पलथी मारे बैठे हैं, जिनके आकार और वेशभूषा से नख से शिख तक भव्यता बरस रही थी। एक कागज हाथ में लिये थे, जिसमें कुछ भजन-सा लिखा था। पण्डितजी उन कागज को पढ़ और अपनी दशा के साथ उसके भावार्थ को मिलाय-मिलाय प्रसन्न और विस्मित से होते थे। एक अद्‌भुत अनुराग से पूर्ण हो, पण्डितजी कहने लगे—बाबा तुलसीदास जी के पदों में कुछ अनोखा ही रस है, यह भजन तुलसीदास जी के विनय का है। इसमें तो मेरा समस्त जीवन-चरित्र और कुल-लक्षण-कुलक्षण भरा है, मानों मेरा जन्म-पत्र-सा लिख डाला हो। मैंने बड़ी-बड़ी पोथियाँ पढ़ीं, पर अपने शालहोत्रिक चिह्न ऐसे कहीं न पाये। अच्छा, एक बार प्रेम से इसे पढ़ तो डालूँ, दुःख-सुख तो लगा ही रहता है। यहाँ तो सन्नाटा है, कोई सुनेगा भी नहीं, न मेरे छिपे हुए कुलक्षणों का सब भेद खुल जाने का डर है।

आ-आ-आ (मुँह बाय के)

दीनबन्धु सुखसिन्धु कृपा कर कारुणीक रघुराई।
कबहुँ योग-रत भोग-निरत शठ हठ वियोग-वश होई।
कबहुँ मोह-वश द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई।
कबहुँ दीन मति हीन रंकरत कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पण्डित विडम्बरत कबहुँ धर्मरत ज्ञानी।

कबहुँ देखि जग घनमय रिपुभय कबहुँ नारिमय भासे।
संसृति सन्निपात दारुण दुख बिनु हरि कृपा न नासे।
संयम जप तप नेम धर्म व्रत बहु भेषज समुदाई।
'तुलसिदास' भव रोग रामपद प्रेमहीन नहिं जाई।

श्रीगोविन्दायनमो नमः—शृणो भाई! तुलसीदासजी अपने इष्ट देवता रघुनाथजी से विनय करते हैं। अरे, विनय क्या मेरी सिफारिश करते हैं कि यह बेचारा गरीब पण्डित रामपद प्रेम से हीन है, इसका भव-रोग नहीं जाता। ठीक है, जब मुझे अपने घर-गृहस्थी की सुध आती है। आगा-पीछा सोचता हूँ तो होश-हवास उड़ जाते हैं कि आगे को सिवाय मेरे कोई सँभालने वाले नहीं ; छोटे-छोटे लड़के, कच्ची गृहस्थी, दिन भर डाँय-डाँय घूमते हैं, तब किसी तरह पेट पलता है। आधिदैविक, आधि-भौतिक, आध्यात्मिक, त्रिविधि-ताप से दिन-रात झुलस रहे हैं। कभी एक छिन भर के लिये भी शरीर को स्वास्थ्य और मन को विश्राम नहीं मिलता। दोपहर की ऐसी धूप में इन जेठ-बैशाख के महीनों में दो घण्टे आदमी की कौन कहे, पखेरू भी एक स्थान में पेड़ की ठण्डी छाया पाय विश्राम करते हैं। पर हम निरे बैशाख-नन्दन बन इस जले पेट के कारण चक्र के समान घूमते ही रहते हैं। बिना दस जगह जाये जी नहीं मानता, यह भी एक दैवी कृपणता है कि उसने हमें पंख न दिया, मृग और श्वान के समान शीघ्र गमन की शक्ति हमें न मिली, न गीध की-सी दृष्टि हमें दी कि जहाँ कहीं स्वार्थ-साधन की कोई बात देखते, चट जा टूटते। बल-पौरुष नित्य घटता जाता है। एक चपल तृष्णा नित्य टटकी और तरुनाई को न पहुँचती जाती, तो मेरा कहीं ठिकाना न लगता, तिस पर भी जब कभी मौत की सुध आती है, तब मैं बौराय उठता हूँ और चाहता हूँ कि कोई ऐसा फकीरी लटका हाथ लग जाय कि सदा जवान बना रहूँ। पर दान-कुदान लेने में या किसी सुन्दर रमणी को देख मौत को भी भूल जाता हूँ और इस रमणी-गाथा की सुध आती है।

भजस्वनित्यं यदि शक्तिरस्तुते दिने-दिने गच्छति नाथ यौवनम्।

इत्यादि-इत्यादि पशुक्रिया में तो मैं कूकर-शूकर को भी मात करता हूँ, यद्यपि व्यास जी ने लिखा है —

ब्राह्मणस्य शरीरं हि क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कच्छाय तपसे चैव प्रेत्यानन्त सुखाय च॥

सो यह बात दिहाती-सिहाती किसी गँवार ब्राह्मण के लिये गढ़ दी गई है, जिन्हें जात-पाँत का विचार है। यहाँ गुरुओं का शठ मन तो जब चलायमान होता है तब किसी तरह का विचार नहीं रहता और न किसी तरह पर धरे-थाँबे रुक सकता है। वियोग की दशा जब सताती है अथवा स्त्री-पुत्र आदि रुचि के अनुकूल स्वार्थसाधन में पक्के न मिले तो यही जी चाहता है कि "सर्वत्यक्त्वा हरिं भजेत्"। फिर जब कमाने को कोई युक्ति देख पड़ती है तब यह शठ मन परमहंस वृत्ति धारण कर लड़कपन की पढ़ी हुई बालबोध नामक पुस्तक की सुध दिलाता है और लड़कपन में जो क ख ग घ इत्यादि घोख रक्खा है उसका पूरा बर्ताव किया चाहता है; यथा (क) जैसे हो तैसे रुपया कमाना दान-कुदान खज्ज-अखज्ज का खयाल निरा गँवारपन है। (ख) दूसरे का खजाना लूट लेना। (ग) गुरुआई छाँटना। (घ) घर फोड़ना। (च) चालाकी से न चूकना। (छ) छलछिद्र में एकता होना। (ज) जालसाजी में गुरुघंटाल बनना। (झ) झूठ सच बात जोड़ने में उस्तादी हासिल करना। (ट) दूसरे का टण्टा जान-बूझ बेसहना। (ठ) दूसरों को ठगना। (ड) दूसरे की थाती डकार जाना। (ढ) धर्म की ढाल आगे रख मतलब गाँठना। (त) तस्करता। (थ) थाती निगल जाना। (द) दुराचार या दम्भ। (ध) धर्मध्वजी। (न) नटखटी में पूरे होना इत्यादि।

जब कभी सतोगुन का उदय होता है तब अपने इन भीतरी पापों को सोचता हूँ और अपने आत्मा की होनहार कुगति पर दया आती है कि हाय यह सब तो मेरा खयाली पोलाव था। केवल भाव दुष्ट होने के कलंक से

कलंकित अलबत्ता हुआ और नफा कुछ न उठाया पर इसके कारण परलोक में यमदूतों के लोहदण्ड अवश्य भुगतान होगा। जब कभी मेरे कुलच्छन सब खुल गये और हरमजदगी के कारण कहीं से निकाले गये तो मूढ़ ना-समझ बन गये और अधिक चपकुलिश में आये तो गिड़गिड़ाय ब्राह्मण बन माफी पाने का मुस्तहक अपने को साबित कर दिखाया। जब देखा कि सीधी अँगुली घी नहीं निकलता और स्वार्थसाधन नहीं बन पड़ता, तब विडंबना फैलाते हैं। तुम्हारे पुत्र का व्याह अमुक कुलीन धनवान की लड़की से करा देंगे ; हमारा तुम्हारा बादरायण सम्बन्ध है ; हम अमुक प्रसंग में आपके साथी और सहायक हुए थे।

तुलसीदासजी के विनय में "कबहुँ धर्मरत ज्ञानी" हमारे बड़े ही काम का है। हम तो एक धर्म ही को आड़ किये हैं. यह धर्म ही सब के साथ जायगा, इसी से हम तन मन धन सब धर्म ही में लगाये रखते हैं। इससे दो प्रकार के लाभ हैं—एक तो स्वर्ग भोग की कामना शायद परलोक में कुछ होता हो, तो सहायता मिलेगी। दूसरा लाभ यह है कि संसार के सब लोग धर्माचरण में प्रवृत्त देख के अच्छा समझते हैं और विशेष दान-मान मिलता है। जब कभी वेदान्ती यजमानों से काम पड़ता है तब "चिदानन्दरूप: शिवोऽहम्" ब्रह्मास्मि ब्रह्मास्मि की रट लगा देते हैं। बहुधा जब देखता हूँ कि संसार धन से भरा हुआ है, तब अपने मित्र लोग से क्या-क्या सलाह नहीं लेता। जब मेरा कहा कोई नहीं मानते तब वे मुझे शत्रुरूप देख पड़ते हैं। बाबा तुलसीदास का यह कहना भी कि "कबहु नारिमय भासै" बहुत ठीक है। जब दूध-मलाई और यजमानों के घर से घी के तले बढ़िया-बढ़िया पकवान हलुआ पूरी खूब छकने को मिला और इन्द्रियाँ प्रबल पड़ीं तब संसार में सुख की मूल केवल स्त्रियाँ ही देख पड़ती है। फिर उस विनय में यह पद—

संसृति सन्निपातदारुणदुख बिनु हरिकृपा न नासै।

सोचने की बात है यह संसार सन्निपातिक महाज्वर के दारुण-दुःख

का एक नमूना है। जिस विषय का लोलुप बनता हूँ, उसी में छटपटाते हुए कचोटा करता हूँ। भला यह दुःख बिना हरि की पीयूष-प्रवाहिनी कृपा के क्योंकर मिट सकता है, जब तक मनमानता धन न मिले या हंसगामिनी मत्तमदालसा वामलोचना न हो! जनेऊ की दोहाई अनेक जप-तप, संयम-नियम करते-करते थक पड़े, भाँति-भाँति के इलाज किये, खातिर-खाह मतलब न निकला। तुलसीदास बाबा सच-सच कहते हैं कि रामपद प्रेम-हीन इस ब्राह्मण बेचारे का दरिद्र न मिटा, न मिटा।

इसके अनन्तर पंच महाराज पहुँचे और कहा पण्डितजी नमस्कार! बस नमस्कार-नमस्कार कह पण्डित जी भी उठ खड़े हुए और सारी मानसिक तरंग यमुना की मन्द-मन्द तरंगों में जा मिली और मन में लजा गये कि इस दुष्ट ने कहीं मेरा गुप्त भेद सब सुन तो नहीं लिया। पाठकजन, समझे एकान्त-ज्ञान क्या वस्तु है! हमारे पण्डित जी एक दृष्टान्तमात्र हैं, संसार के मनुष्यमात्र पर यह सुघटित हो सकता है! किम्बहु?

फरवरी, १८९२

जगत्-प्रवाह

वेग गामी झरने, नदियाँ, समुद्र इत्यादि का प्रवाह रुक जा सकता है, प्रद्योतित बुद्धि के नई अकिल वाले इस समय के विज्ञानियों ने अनेक ऐसे यंत्र, औजार और कलें ईजाद की हैं, जिसके द्वारा वे तीखी-सी-तीखी धाराओं के प्रवाह को रोक दे सकते हैं या उसके प्रवाह को उलट दे सकते हैं। किन्तु आज तक ऐसा कोई बुद्धिमान् न हुआ जो जगत् के प्रवाह को रोक देता या उसे एक ओर से दूसरी ओर पलट देता। चौकसी के साथ अनुसन्धान करते रहो तो पता लग जाता है कि अमुक नदी या झरने के प्रवाह का प्रारम्भ कहाँ से कब से है, और कब तक रहेगा, पर जगत् के प्रवाह का प्रारम्भ कब से है, कहाँ से है और कब तक रहेगा ख्याल सही नहीं है—माफ कीजिये बेअदबी होती है। साहब, जिसे आप मान, आत्मगौरव और धर्माचरण कहते हैं वह भी रुपये के लिये है और रुपये से सधता है। बड़े से बड़े मनस्वी, तपस्वी, संयमी, न्यायशील सब रुपये के लिये तपस्या इत्यादि से हाथ धो बैठते हैं। मैंने बड़े-बड़े तपस्वी और मनस्वियों को आजमाया, रुपया देख सब फिसल गये। इसी के लिये बाप-बेटों में चल जाती है, भाई-भाई कट मरते हैं। उस रुपये की कमी हमको नहीं है; ज्यों-ज्यों आपका घिष्टपिष्ट मेरे साथ बढ़ता जायगा, आप जानोगे कि मैं कौन हूँ, मेरा इतिहास किस प्रकार का है।

वृन्दावन इसकी ये बातें सुन अचंभे में आया। थोड़ी देर तक सोचता रहा कि यह तो कोई अद्भुत पुरुष है, मेरे मित्र ने क्या समझ इसे मेरे पास भेजा। यद्यपि वृन्दावन को अपनी लियाकत का कुछ कम घमंड न था, किन्तु इस समय यह उसके रोब में आ गया और गिड़गिड़ाता हुआ धीमी आवाज से बोला—मैं आपका नाम जानना चाहता हूँ, वर्णमाला के किन-किन अक्षरों को वह सुशोभित करता है।

उसने कहा—मेरे कई एक नाम हैं। भिन्न-भिन्न समाज और संप्रदायवालों ने अपने-अपने ढंग पर अपनी पसन्द और रुचि के अनुकूल मेरा नाम धरा रक्खा है; किन्तु साधारण रीति पर सब लोग मुझे सिद्धार्थक कहकर पुकारते हैं।

इतने में गाड़ी अपने ठिकाने पहुँच गई; दोनों उतरे। अपने नौकरों में से एक को इसने इशारे से बुलाकर कहा—देखो, बाबू साहब को किसी तरह की तकलीफ न होने पावे। यह तो कोठी के भीतर चला गया। नौकर अपनी जात की कमीनगी के मुताबिक जैसा इन लोगों का दस्तूर होता है कि मालिक की आँख के सामने सब कुछ, मालिक आँख की ओट में हुआ कि हाहा-ठीठी टाल-बटाल। खास कर जब उनको इसका कुछ पता नहीं लगता। बुद्धिमानों ने इस विषय में भाँति-भाँति के अनुमान किये हैं और अकिल भिड़ाया है सही; पर ठीक ऐसा ही है यह निश्चय किसी को न हुआ। सच तो यों है जब तक यह प्रवाह अपने पूर्ण वेग से चला जाता है तभी तक कुशल है। जरा-सा मन्द पड़ा या एक निमेष मात्र को भी रुका कि कयामत या प्रलय का सामान जुट जाते देर नहीं लगती। योगाभ्यासी तथा वेदान्ती मन को मार शान्ति-शान्ति पुकारते हैं यह नहीं विचारते कि जगत् के प्रवाह में पड़े हुए को शान्ति कहाँ? जमशेद, दारा, सिकन्दर से प्रबल प्रतापियों की कौन कहे, राम, युधिष्ठिर सरीखे जो अंशावतार माने गये हैं, जगत् के प्रवाह में पड़ उनका भी कहीं ठिकाना न लगा। प्रातःकालीन गगन-मंडल के एक देश में नक्षत्र-समूह सदृश थोड़े समय तक जगमगाते हुए इस प्रवाह में पड़ न मालूम कहाँ बिलाय गये।

यह प्रवाह ऐसा प्रचण्ड है कि एक-दो मनुष्य की क्या, देश के देश को अपनी एक लहर में बटोर न जाने कहाँ ले जा फेंकता है—जहाँ कई करोड़ मनुष्य बसते थे, जहाँ के लोग मनुष्य जाति के सिरमौर थे, जो देश सभ्यता की सीमा था, वह इस प्रचण्ड जगत्-प्रवाह में पड़ ऐसा अस्त हुआ कि उसकी पुरानी बातें किस्से-कहानियों का मजमून और चण्डूबाजों की गप्पें हो गईं और जगत् का प्रवाह जैसा का तैसा बना ही रहा। प्राचीन भारत,

प्राचीन पारस, प्राचीन यूनान, प्राचीन रोम, इसके निदर्शन हैं। इस प्रवाह में पड़ा हुआ जिसे जो सवार है वह अपने गीत गाये जाता है, अपने स्थिर निश्चय और उत्साह से जरा मुँह नहीं मोड़ता।

पुराने आर्यों ने इस प्रवाह को त्रिगुण-विभाग माना है। जहाँ जिस भूभाग में जब इस प्रवाह का वेग सीधा और मनुष्य-जाति के अनुकूल रहा, प्रकृति के सब काम जब तक स्वभाव अनुसार होते रहे, तब तक वहाँ सतयुग या सतोगुण का उदय रहा। वहाँ के स्थावर जंगम सजित पदार्थ मात्र में सात्विक भाव का प्रकाश रहा। प्रत्येक मनुष्य यावत् अभ्युदय और स्वर्ग-सुख का अनुभव करते हुए कृतकृत्य पूर्णकाम और आप्तकाम रहे। किसी अंश में कहीं पर से किसी तरह की किसी को त्रुटि का नाम न रहा।

कृतकृत्याप्रजाजात्यातस्मात्कृतयुगंबिदुः।

इसी को उन्नति, तरक्की, सभ्यता, उदार भाव, स्वतंत्रता, जो चाहो सो कहो।

भारत में न जानिये कै बार उस प्रवाह की प्रेरणा से चक्रवत् पलटा खाते सतोगुण का उदय हो चुका है। सतोगुण में क्रम-क्रम हानि और घटती का होना ही रजोगुण है, जिसके प्रादुर्भाव में प्रमाद, आलस्य, तृष्णा, स्वार्थ परदृष्टि, हिंसा अपने और पराये की निर्ख, विषय-भाव आदि बढ़ जाता है। बिलायत में इन दिनों रजोगुण ही बढ़ा-चढ़ा है, बल्कि युग-सन्ध्या के क्रम पर तमोगुण की तरक्की होती जाती है। वह प्रवाह जब तमोगुण के साथ टकराता है तब राग-द्वेष, बैर, फूट, ईर्ष्या, द्रोह, हिंसा, पैशुन्य, विषयलंपटता, चित्त की क्षुद्रता और कदर्यता बढ़ती है। काल-चक्र की वक्र-गति हिन्दुस्तान में उसी तमोगुण को प्रवाहित कर रही है जिसे अवनति, तनज्जुली, घटती, जघन्यता, पराधीनता, बिगाड़ चाहे जिस नाम से पुकारो तुम्हें अधिकार है। उनकी तो बात ही और है जो इसमें पगे हुए इसी को बड़ा भारी सुख मान रहे हैं। नहीं तो नरक के प्राणी भी हम ऐसों के पराधीन निकृष्ट जीवन से अधिक श्रेष्ठ और सुखी हैं। यहाँ पर हमारे एक

प्रिय मित्र का कहना हमें याद आता है जिनका सिद्धान्त है कि मरने के बाद रूह को फिर जन्म लेना पड़ता है। यह खयाल सच है तो हिन्दुस्तान के नारकिक समाज के बीच नरक भूमि में जन्म ले पराधीन जीवन से सहारा के रेगिस्तान में भी स्वच्छन्द जीवन अच्छा। भागवत के उस श्लोक का लिखने वाला हमें इस समय मिलता तो कम से कम गिन के तीन गहरी चपत उसे जमाते, जिसने लिखा है कि स्वर्ग में देवगण भी सोचते हैं और इस बात के लिये तरसते हैं कि भारत की कर्म-भूमि में किसी तरह एक बार हमारा जन्म होता तो हम अपने जन्म को सफल करते। बड़े नामी लेखक जिन्होंने इस प्रवाह के अन्तर्गत किसी बुराई के संशोधन के लिये हजारों पेज लिख डाला, प्रसिद्ध वक्ता जिन्होंने चाहा कि हम एक छोर से दूसरे तक अपनी मेघ गंभीर वक्तृना और बातों से उन बुराइयों को उच्छिन्न कर दें। पर उनका वह परिश्रम प्रबल प्रवाह-सागर में एक बिन्दु भी न हुआ और उस उनके लेख और वक्तृता का अणुमात्र भी कहीं असर न देखा गया ; हमने बहुत चाहा कि बाल-विवाह कुरीत को अपने बीच से हटा दें। कोई अंक ऐसा नहीं जाता जिसमें दो एक मजबूत धक्के इस कुरीत के प्रबल प्रवाह को न देते हों, किन्तु एक आदमी को भी अपने पन्थ में न ला सके। प्रवृत्ति के नियमों में कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति है कि कोई कितना ही इस प्रवाह से बचा चाहे नहीं बच सकता। सच है—

> **आदित्यस्य गतागतैं रहरहः संक्षीयते जीवितम्,**
> **व्यापारैंर्बहुकार्य भार गुरुभिः कालोपि न ज्ञायते।**
> **दृष्ट्वजन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,**
> **पीत्वा मोहमयीं प्रमाद-मदिरामुन्मत्त भूतं जगत् ॥**

सूर्यदेव के प्रतिदिन उदय और अस्त से आयुष्य घटती जाती है। कार्य के बोझ से लदे हुए अनेक व्यापार में व्यापृत, बारबार जन्म लेना, बुढ़ा जाना, अनेक प्रकार की विपत्ति और मरण देख किसी को त्रास नहीं होता। मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर संपूर्ण जगत् उन्मत्त् हो रहा है।

इस तरह महाप्रवाह पूर्ण भव-सागर के पार होने को धैर्य एकमात्र उत्तम उपाय है। सच है "धीरज धरै सो उतरै पारा" और भी भारत के वनपर्व में इस जनम-मरण महा नदी के प्रवाह का बहुत उत्तम रूपक दर्साय धैर्य को नौका-रूप एकमात्र अवलंब निश्चय किया है, यथा—

कामलोभग्रहाकीर्णा पंचेन्द्रिय जलां नदीम्।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्म दुर्गाणि सन्तर॥

भाँति-भाँति की कामना और लोभ, नक्र, मक्रपूर्ण पाँच इन्द्रियों के विषय जिस नदी का जल रूप प्रवाह है उसके पार जाना चाहे तो धैर्य की नौका पर चढ़ फिर-फिर जनम-मरण के क्लेश से छूट सकता है।

अप्रैल, १८९७

नये तरह का जनून

थोड़े दिनों से हमारे मुल्क में नये तरह का जनून पैदा हो गया है और इन जनूनियों की संख्या अब इतनी अधिक हो गई है कि इनका एक फिरका होता जाता है। अँगरेजी तालीम के साथ ही साथ यह उपज खड़ा हुआ है और इस जनून का नाम संशोधन या "रिफारमेशन" है।

इसका सबसे जियादह जनून एडिटरों को होता है, जो दीवानों की तरह जो मन आया सो बक्का किये, कोई चाहे मानों चाहे न मानो, कुछ उसका असर हो या न हो, जो सिर सवार हुई सो हुई। शुभ-चिन्तक लोग कितना ही मना करते हैं कि सूअरों के सामने अपना कीमती मोती न फेंको; इन्होंने राड़ों के भाँति जो एक चरखा शुरू किया, ओटते ही जाते हैं, कब किसी की सुनते हैं। यह जनून आर्यसमाजियों को भी किसी से कुछ कम नहीं है, कोई कितना ही कहे इन्हें जो झक्क सवार है सो कभी उतरे ही गी नहीं कि वेद अपौरुषेय और स्वतः प्रमाण हैं पुराण सब गप्प हैं, वेद में यावत् साइंस और विज्ञान सब उसकी नस-नस में भरे हैं। यों तो पेटा-रथू न जानिये कितने जनूनिये प्रीचर और उपदेशक के नाम से प्रसिद्ध हैं, कौन उनकी सुने। जैसे किसी को गोरक्षा का जनून सवार है। कोई टेम्प-रेन्स को यावत् संशोधन का हेतु मानता है। किसी को औरतों की तालीम सवार है। कोई विधवाओं के विवाह के नशे में गड़ागप है। हम अपनी एक निराली ही तान गा रहे हैं कि कमसिनी के व्याह मुल्क से उठा दिया जाय बस, देश उन्नति के शिखर पर एकबारगी छलांग मार उछलकर चढ़ जाय। किसी सत्यानाशी को बिलाइत यात्रा सवार है। किसी ने होटलों में बैठ अँगरेजों का जूठा खाने ही में मुल्क को आजाद करने का उपाय सोच रक्खा है। किसी का औरतों की परदेदारी शिकस्त करने पर कस्द है। कितने नराधम ऐसे भी उपज खड़े हुए हैं, जिन्होंने

संशोधन ही को अपने लिये रोटी कमाने की एक हिकमत मान रक्खा है। किसी समाज या कमेटी के सेक्रेटरी अथवा मैनेजर बन चन्दा उगाह-उगाह निगलते रहे। न जानिये कै हजार रुपये पचै डाले और डकार तक न आई।

अगस्त्यं कुम्भकरणं च भीमं च बडवानलम्।

कांग्रेसवालों का जनून सबसे अधिक असाध्य रोग है; जिसके दूर होने का कोई उपाय हुई नहीं। कर्मचारियों ने हजार सिर धुना कि इस विष-वृक्ष की जड़ उखाड़ डालें, पर यह दिन-दिन पुष्ट पड़ता जाता है और अब तो अजर-अमर हो गया।

महात्मा ईसा का कहना है कि हमने बाँसुरी बजाई तुम न नाचे। इन जुदी-जुदी धुनवाले संशोधकों का दल इकट्ठा किया जाय तो कई लाख आदमी निकलेंगे जो अपने-अपने जनून को पूरा करने में तन-मन से तत्पर हैं। कोई दूसरा देश होता तो अब तक न जानिये क्या हो जाता। यहाँ—

भैंस के आगे बीन बाजै भैंस खड़ी पगुराय।

जो चाहे सो हो, इन्हें पागुर करने से काम। जिसने मुँह चीरा है, झख मारैगा खाने को दे ही देगा।

जान को देत सुजान को देत अजान को देत सो तोहू को दे है।

एक वह कौम है कि साधारण से सुई और दियासलाई के कारखाने वाले करोड़पति हैं; साल में लाखों कमाते हैं। स्याही का कारीगर स्टीफेन की ओर से एक हजार माहवारी तनख्वाह के कई आदमी नौकर हो खाली इसलिये भेजे गये हैं कि लोग शहर-शहर घूम इस बात की जाँच करते रहें कि उनकी पेटेंट स्याही की नकल कोई न बनाने पावे; न जानिये कै लाख साल की आमदनी एक स्याही के कारखाने से है। ऐसे-ऐसे हजारों किस्म के कारखाने इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और वेलजियम वालों के हैं।

वहीं हम हैं जिन्हें लड़की-लड़कों के ब्याह से इतनी फुरसत नहीं मिलती कि दूसरा काम करें। बस, इसी के लिये जन्मे हैं कि गन्दी सृष्टि

बढ़ाते ही जायँ। औलाद को तालीम वगैरह की तो चर्चा ही क्या ? उनके लिये पेट भर अन्न न मुहैया कर सकें बला से। तन ढापने को कपड़ा न सम्पादन कर सकें, कोई हर्ज नहीं। सन्तान को कुँवारा न रहने दें, जिसमें सृष्टि बढ़ती रहे और अनुत्साही मुर्दा दिल निष्पुरुषार्थियों का दल जुड़ता जाय। हजार मेहनत मशक्कत के बाद स्त्री पुत्र को अन्न-वस्त्र से सन्तुष्ट रखना और काम-काज में डेढ़ बीते की नाक न कटने पावे—जहाँ सपूती का छोर है, वहाँ संशोधकों को अपना व्यर्थ सिर पचाना जनून नहीं तो और क्या कहा जाय ?

अँगरेजी राज्य के इस कड़े शासन में जब हम सब ओर से दबे हैं और चारों ओर से ऐसे कस दिये गये हैं कि हिल नहीं सकते, आमदनी का कोई द्वार खुला न रह गया। यावद्वस्तु की गिरानी से खर्च इतना बढ़ गया कि किसी तरह पेट भर अन्न मिलता जाय, रूखी-सूखी खाकर बाल-बच्चों को पाल सकें, मानों समस्त सपूती का निचोड़ आ गया। ऐसी हालत में भी जब हम न चेते तब अब कब चेतेंगे ? दूसरे यह कि गवर्नमेण्ट के कानून की जागती ज्योति सोलहों कलापूर्ण जगमगा रही है। न्याय और इन-साफ सब के लिये एक-सा खुला है। शेर-बकरी एक घाट पानी पीते हैं। किसी पर किसी का अन्याय और अत्याचार नहीं चल सकता। एक-एक आदमी आजाद और स्वच्छन्द है ऐसा सुभीता पाकर जब हमने न कुछ किया तब सिवा इसके और क्या कहा जाय कि हमारी बराबर घस्सड़ कौम दूसरी कोई नहीं है। आगे कदम बढ़ाने को कौन कहे, ऐसी-ऐसी सामाजिक और मजहबी कैदें पीछे लगा दी गई हैं जिनका परिणाम ईर्ष्या-द्रोह, लड़ाई-झगड़ा और आपस की फूट के सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता; जिससे कौमियत या जातीयता का भाव हमारे में कभी आ ही नहीं सकता। अच्छी तरह जी गवाही दे रहा है कि अमुक बात हमारे समाज में बड़ी बुराई की है; उठा दी जाय तो सिवा फायदे के कभी नुकसान हुई नहीं। पर मौका आने पर हम तुम्हारा मुँह देख रहे हैं, तुम हमारा। इतनी हिम्मत नहीं है कि राह दिखलाने वाले अगुवा बन उस बुराई को तोड़ सकें। मसल है—

और को लुखरी सगुन बतावे, आप कुत्तों से चिथावे।

पढ़े-लिखे बड़े लोग आली दिमाग काम पड़े तो कहो ऐसा लेक्चर झारें कि पक्के घंटे भर बाद दम लें, किन्तु समय पर लेक्चर में कही हुई बात को करके दिखाय देने में दुम दबाय कोसों दूर भागेंगे। करते आप हैं पर उस भूल का दोष किस्मत, होनहार या संस्कार को देते हैं।

परम सुन्दरी कन्या साक्षात् देवी की मूर्ति जिसकी कीमत दस हजार से कम नहीं हो सकती। उसके योग्य लड़का भी पढ़ा-लिखा, सुशील, खुश-नसीब सब तरह पर उपयुक्त है। पर नाड़ी वर्ग न बना, शादी फिस्स कर दी गई। या बना भी तो हाड़ अच्छा नहीं है सम्बन्ध नहीं हो सकता। हाड़ का अच्छा, महा उजड्ड, छत्तीसों गुन बनता भी है, उस रूपवती सुन्दरी के साथ व्याह दिया गया। व्याह के महीने भर बाद लड़का यमलोक का बटोही हो गया! अब इस समय संस्कार और किस्मत को दोष दे सिर धुनते हैं। अपनी भूल को कभी एकबार भी न पछतायंगे; न अपने गन्दे समाज को कुछ दोष देंगे। कितने ऐसे सामाजिक काम हैं जो केवल स्त्रियों ही के आधीन हैं और स्त्रियों की जैसी हीन दशा हमारे देश में है वह विदित ही है। ये संशोधक लोग बाहर चाहे जितना जोश और जनून दिखलावें, घर के भीतर इनके उपदेश वक्तृता की गन्ध भी नहीं पहुँचने पाती। तस्मात्, हमें तो यही जान पड़ता है कि हमारे देश में संशोधन केवल सपने में बर्राने के समान है। कोई कितना ही सिर खाली करे, होना-जाना कुछ नहीं है। इसीलिये हम कहते हैं, हमारे देश में एक नये तरह का जनून पैदा हो गया है।

नवम्बर, १८९२

लोक-एषणा

यह लोक-एषणा या लोक-रञ्जन ऐसी बला है कि कैसे ही आप चोखे से चोखे सच कहनेवाले या सच्चा बर्ताव रखनेवाले हों कुछ न कुछ बनावट किये बिना चल ही नहीं सकता। हाँ, विरक्त बन केवल फल-फूल, कन्द-मूल, शाकाहार से निर्वाह कर जनसमाज से दूर रह, कहीं निर्जन वन में जा बसिये तो अलबत्ता संभव है कि इस घृणित लोक-रंजना या दुनिया-साजी से कदाचित् बचे रह सकते हो! किन्तु आदमियों के दंगल में बस आपका शुद्ध अलौकिक चोखा होना—शहनाई का बजाना और चने का चबाना है। बुद्धिमानों ने जिसे शुद्ध पारमार्थिक और निरा अलौकिक निश्चय कर रक्खा है, लौकिक या लोक-रञ्जन उसमें भी जा घुसा और यहाँ तक उसे बिगाड़ डाला कि शुद्ध परमार्थ की उसमें कहीं महक भी न बच रही। दंभदेव की व्यापक शक्ति को साष्टांग प्रणाम है, जिसके जाल में बड़े-बड़े विरक्त और मुक्त भी फँसे हुए काठ की पुतली से नाच रहे हैं। कभी को ऐसा भी होता है—मौन रहना, जटा रखाना, तिलक और मुद्रा से देह भर चीत डालना आदि, ढकोसले जो अलग-अलग दंभ के एक-एक प्रकार हैं, ईश्वर सानुकूल हुआ, तो जीविका और पेट पालने के द्वार हो जाते हैं। कभी को अजितेन्द्रियों को नहीं भी होते—

मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्मव्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः
प्रायः परमपुरुषतेऽजितेन्द्रियाणां वार्ताभवन्त्युत नवाऽत्रतु दांभिकानाम॥

हम तो यही कहेंगे कि जो इस दुनियासाजी के जाल में नहीं फँसा वही बड़ा ज्ञानी, बड़ा तपस्वी, संयमी, श्रद्धालु, बड़ा भक्त और जीवन-मुक्त है। इससे छुटकारा पाना ही योगीश्वरों की सिद्धियाँ हैं। पागल,

जनूनी, सौदाई, दीवाना, महाघिनौना, असभ्य, बेवकूफ, गाउदी कहलाता हुआ इस घृणित लोक-रञ्जना से छुटकारा रहे वह अच्छा। किंतु साक्षात् दंभ के पूर्णावतार बनकर महामहोपाध्याय, षट्शास्त्री, सिद्धेश्वर, योगी होना अच्छा नहीं।

बहुधा ऐसा भी देखा गया है कि लौकिक मे अपने को छूटते न देख लोग दीवाने, सौदाई, महा मैले और घिनौने बन गये हैं। राजा सगर के पुत्र असमंजस, ऋषभदेव, दत्तात्रेय आदि महात्माओं की पुरातन कथाओं का वास्तविक भावार्थ इस लोक-रञ्जना से छुटकारा पाने ही का है। सच तो यों है कि हम इस लोक-एषणा के लिये जो इतनी चेष्टा करते हैं, तो इसका यही प्रयोजन है कि समाज में हमारी सुर्खरूई रहे, कुल की कान निभती जाय, कोई नाम न धरे। जो इस लोक-लाज को न डरा, जिसने बेशर्मी का जामा पहिन लिया, उसे इस लौकिक से सरोकार ही न रहा। खोजते-खोजते ऐसे दो ही पाये गये, एक तो वे, जो तर्क-दुनियासिद्ध और महात्माओं में शामिल हैं; दूसरे दिवाल-दारिये। इन दिवालियों को भी हम उन सिद्धों से कुछ कम नहीं समझते; क्योंकि इज्जत, आबरू या मोती की-सी आब उतर जाने का ख्याल, जिस परलोक-एषणा का सतखण्डा महल बना हुआ है, दिवाले के साथ ही साथ निकल भागता है।

हम ऊपर कह आये हैं, शुद्ध पारलौकिक कामों को भी लोक रञ्जना ने अपने जाल में फँसा रक्खा है। आप इस समय राजा बलि से महादानी कलियुग के कर्ण बन पुश्तहापुश्त का संचित धन बहाये देते हो और "मैं बड़ा उदार दानी हूँ", इस भावना से दिमाग में फूले नहीं समाते, पर सोचिये तो सही कि शुद्ध परमार्थ के ख्याल से किसी काम में किसी को आपने कभी एक पैसा भी दिया है? जिन्हें भारी-भरकम चेहरे-मुहरे से दुरुस्त मोटे-ताजे हट्टे-कट्टे देखा उन्हें आपने भी उलचना आरम्भ कर दिया। इसलिये कि यहाँ तो यह लौ लगी है कि इसे देंगे तो यह चार भले मानुसों के बीच जो रियासत की नाक थामे हुए हैं, वहाँ जाकर हमारा नाम करेगा। अब

बतलाइये दान की वह बात कहाँ रही कि जिसे तुम्हारा दाहिना हाथ दे उसे बायाँ हाथ न जाने।

अब और दूसरे विषय को लीजिये। आप बड़े नैष्ठिक और श्रोत्रिय हैं; त्रिकाल-सन्ध्या, गंगा-स्नान, बलिवैश्वदेव, अग्निहोत्र, सब भरपूर निबाहते हैं; पर जी से यह सब इसलिये है कि बड़े रईस, राजा, महाराजा आ फँसें और हम उन्हें अपना चेला मूड़ गुरू बन खूब पुजावें। हम काशी, प्रयाग, कुरुक्षेत्र, अयोध्या आदि स्थानों को बार-बार असीसते हैं कि भला इस नई सभ्यता के जमाने में दंभदेव को करावलम्ब तो दिये हैं। दंभ का रूप विस्तारपूर्वक जानना चाहते हो तो प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक निकाल के पढ़ो। अब रही भक्ति और श्रद्धा की बात तो उन दोनों की निवास-भूमि ८४ कोस ब्रज में जाके देखिये, चित्त प्रसन्न हो जायगा और यही जी चाहेगा कि हम भी ब्रज-भूमि में क्यों न पैदा हुये कि कृष्ण भगवान् की लीला का अनुभव करते हुये अहर्निश आमोद-प्रमोद किया करते—

परस्परं भोज्यमहर्निशं रतिः स्त्रीभिः समं पानमनन्त सौहृदम्।
श्रीगोकुलेशापतचेतसां नृणां रीतिः परासुन्दरि सारवेदिनाम्॥

हमारे पढ़नेवाले समझते होंगे, यह तो बड़ा ही आजाद झूरी सुनाने वाला, मुँहफट है; बड़ा देश का हित चाहनेवाला है। यह कोई क्या जाने, यहाँ देश को भार में झोंके बैठे हैं, लोक-रञ्जना तो हमारा सिद्धान्त हो रहा है। मन में यही भावना लगी है कि हमारे लेख से लोग रीझें, ग्राहक बढ़ें, टेंट गरम हो। पर किस्मत की कमनसीबी, हिन्दी के दुर्दिन और हिन्दू समाज की विद्वत्ता को कहाँ तक सराहें, २३ वर्ष बीत गये, ललाते ही रहे। हत्तेरी लोक-रञ्जना चण्डालिनी की। इसी से उससे घिनाय आज हमने उसी को धर दाबा। हमारे पढ़ने वालों में से जिन्हें इसमें कुछ प्रतिकूल हुआ हो; माफ करें, क्योंकि हम पहले ही लिख आये हैं कि लोक में रह, लोक-रञ्जना से बचे रहना असंभव है। जल में रह मगर से विरोध कहाँ का न्याय है।

नवम्बर, १९००

मधुप

मधुप! तेरे लिये सब संसार भर ऐसी रमणीक और मन लुभाने वाली वाटिका है कि इसमें घूम-घूम तू हर तरह के मकरन्द का स्वाद लेता हुआ स्वच्छन्द विहार कर सकता है। पर देख—खबरदार, सावधानी रखना; केवल मकरन्द के पान से काम रखना। तुझे क्या पड़ी है कि किसी तरह की छेड़-छाड़ कर या अपनी राय जाहिर कर कि उस बगीचे की फलानी क्यारी के फूल भले या बुरे हैं। हाँ, वहाँ तुझे बहुत से कटीले वृक्ष भी मिलेंगे, जहाँ तुझे सर्वांग कंटक-विद्ध हो जाने की संभावना है। तो तुझे क्या प्रयोजन कि उन कटीले पेड़ों से अधिक घिष्ट-पिष्ट कर अपने को दुखी बनावे। अच्छा तो अब तू जा, तेरा सब भाँति मंगल और स्वस्ति हो।

वर्त्मनि वर्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितंसमागमः ॥

अपने काम में भरपूर चालाक और सयाना यह मधुप विदा हो पहले-पहल इस वाटिका की एक ऐसी क्यारी में जा पड़ा जहाँ के फूलों की मीठी और तीखी सुवास इसके मन को महीनों और बरसों से लुभा रही थी। क्यारी क्या बल्कि यह एक पूरा गाटे का गाटा था और इस मनोहर वाटिका के बीचो-बीच में था। कहने को तो यह एक ही गाटा था, पर उसमें कई-एक जुदी-जुदी क्यारियाँ कर दी गयी थीं। और इसमें ऐसे-ऐसे गुल हुये थे जिनकी सुवास मधुप को महीनों बिलमा रखने को काफी थी।

मधुप बड़ी देर तक इसी असमंजस में पड़ा हुआ था कि पहले इनमें किस ओर झुके और किस अनोखे मकरन्द का पान करें। थोड़ा संकल्प-विकल्प और ऊहा-पोह के उपरान्त यह एक ओर झुक पड़ा और देखा तो वहाँ के मदमादे गुलाब-केवड़े निराले ढंग पर महर-महर करते हुए अपने कल्पित-चरित्र की छिपी-सी छिपी गन्ध से उस मधुप को महीनों के लिये

अपना पाहुना बनाने को प्रस्तुत हैं। उधर वहाँ की केतकी, सेवती, मालती, चमेली अलग ही हवा में झोंके लेती इशारे से उसे निमन्त्रित कर रही हैं। मधुप पहले तो बड़े चाव से वहाँ विराम करता रहा और यही आशा लगाये था कि इन गुलाब केवड़ों की सौरभ का मनमानता स्वाद उसे मिलेगा; किन्तु बहुत ही जल्दी इससे निराश हो जाना पड़ा। सच है—

सहवासी विजानीयाच्चरित्रं सहवासिनाम्।
सोना परखै कसे, आदमी परखै बसे।

बल्कि, इस आशा-भंग की उसे असह्य वेदना सहनी पड़ी और यह कहावत याद आई—"ऊँची दूकान के फीके पकवान होते हैं।" पछताते हुए भाँति-भाँति की कल्पनायें और अनेक तरह के विचार इसके मन में उठने लगे कि ईश्वर ही रक्षक हैं; जो यही दशा है तो कै दिन इस ऊँची दूकान का ऊँचापन निभ सकता है। अस्तु, मधुप को तो अपना काम साधने से प्रयोजन था। जैसी उसे शिक्षा मिली थी, उसी के अनुसार गुलाब और उसके परिवारों की लीला का अनुभव करने लगा। उन परिकर-गणों में एक उसे वहाँ देख पड़ा जो उस्तादी, सयानेपन और मक्कारी में अपने साथियों में सबों के कान काटे था। उमर में ४० के ऊपर डाँक गया था। पर हुस्न और वजेदारी में अपने को १८ वर्ष का गभरू जवान माने हुए था। इसे अपने हुस्न का गरूर कुछ उचित भी मालूम होता था, क्योंकि उमर इसकी इतनी धँस गई थी सही पर, सिर के बाल कहीं एक भी सफेद न हुए थे। इसके गोरे चेहरे पर गुलाल की लाल बिन्दी बहुत ही भली लगती थी। मोटे ओठों पर पान की ललाई विद्रुम की आभा और कुन्द की कलियों से उतार-चढ़ावदार दाँतों की दोनों पाँत मानों मोतियों की दो लड़ियाँ थीं। चेष्टा और आकार से तो यह कोई ऊँची जाति का मालूम होता, पर इसके गुप्त चरित्र और काम की ओर जब ध्यान गया तब मधुप बड़े सन्देह में आया कि इसे कौन जाति और किस वर्ण का मानें। जो हो उस गुलाब के तो यह बड़े ही काम का था; बल्कि हाथ की करछली था, जिसके बिना

एक क्षण भी उसे कल न पड़ती थी और सब काम बन्द रहता था। नाम इसका पूरन या फुन्नू था। पढ़ा-लिखा एक अक्षर न था। पर चालाकी से सब विषय में टाँग अड़ा देता था। या वहाँ पढ़ने-लिखने का काम ही कौन था।

लंका निश्चय निकर निवासा।
यहाँ कहाँ सज्जन कर वासा॥

गुलाब को जब कुछ चुहल करना मंजूर होता था तब यह आपस की चपतबाजी, धौल-धक्कड़, हाहा-ठीठी में विदूषक बन जाता था। ब्यालू या भोजन के समय बावर्ची या वल्लव का काम देता था। चौसर या गंजीफा खेलने में साक्षात् कंक भट्ट यही बन बैठता था। शाम को हवाखोरी के वक्त कोचवान बन जाता था। कभी-कभी तो सईसी भी निभा देता था। विहार स्थान खिलवत में घटक बनता था। सच पूछो तो वही इसका मुख्य-काम था भी ; पूरन क्या यथा नाम तथा गुण सब भाँति बहुगुना वर्तन था—

लाओ ऐसा नर पीर बावरची बिहिश्ती खर।

कहाँ तक पूरन की सिफत लिखी जाय। प्याले पर प्याला जब गर्दिश करने लगता था, तब जाम को लबरेज करने वाला भी यही होता था। शगल जब ओर-छोर को पहुँचा था, तब उस मुर्दे को घसीट खाट पर पटक देनेवाला भी यही होता था।

एक दिन आषाढ़ का महीना आधी रात का समय था। शुक्ल पक्ष की सप्तमी या अष्टमी रही होगी। मेह बरस कर निकल गए थे, बीच-बीच दो-चार बूँदें पड़ती जाती थीं। पर बादल गड़गड़ा रहे थे, आसमान बिलकुल साफ नहीं हो गया था, जिससे बोध होता था कि अभी दो-एक बड़े जोर की कुज्झटिका और आया चाहती है। भाग्यहीन की समृद्धि के सदृश अष्टमी का चन्द्रमा अस्त होने पर था। इधर-उधर बिखरी श्वेत-कृष्ण मेघ-माला में सौदामिनी क्रोधित कामिनी-सी लौक रही थी। सब ओर सन्नाटा छाया हुआ था। केवल नव वारि समागम प्रफुल्ल मेख-

मण्डला नाऊ की बरात के समान सब अलग-अलग ठाकुर बने हुए टर-टर करते कानों की चैलियाँ उड़ाये डालते थे। इसी समय किसी ने आय कुंडी खटखटाई। पूरन जो दिन को चाहे कहीं रहे, रात को जरूर उसे वहाँ रहना पड़ता था, ऊँघता हुआ आया और किवाड़ खोल दिया। यह आदमी जो इस समय आया, लम्बे कद का दाढ़ी रखाये था, गलमुच्छे थे, और गोल टोपी दिये था। अन्दाज से मुसलमान मालूम होता था; आते ही बाबू गुलाबचन्द्र को बड़े अदब के साथ झुक के सलाम किया। गुलाबचन्द्र मानो इसे परख रहे थे, बल्कि इंतजारी करते-करते उकता से गये थे, बोले—शेख जी, आपने तो बड़ी देर की।

शेखजी—हुजूर, हाँ! देर तो बिलाशक हुई। आप जानते हैं, ऐसे-ऐसे काम क्या सहज में हो जाते हैं। जरा देर तो हुई, पर चीज भी ऐसी है कि हुजूर को खातिरखाह पसन्द आवेगी। याने मैं बहुत दिनों से इस काम को कर रहा हूँ, पर ऐसी चिड़िया कभी मेरे काँपे में नहीं आई। बहुत देर तक काना-फुसी और कहकहे के उपरान्त शेखजी बोले— हुजूर आप जानते हैं, ऐसी कौन-सी बात है कि जिसके लिये कोशिश करो और कामयाबी न हो।

गुलाब—हाँ, इसमें क्या शक है। इसीलिये तो मैंने आपके सुपुर्द इसे किया। जैसी रूह वैसे फिरिश्ते होना चाहिये। अच्छा, तो अब देर क्यों? (पूरन से) पूरन, आरास्त है न?

पूरन—जी हाँ, आपका हुक्म पाते ही मैंने सब साज रक्खा। गुलाब शाबास! अच्छा, तो इसका खातिरखाह इनाम पावेगा।

मधुप जो चुपचाप मौन साधे यह सब लीला देखता रहा, चित्त में बहुत ही घिनाया और कहने लगा—मैं कहाँ ऐसे ठौर आ फँसा अब कैसे छुटकारा पाऊँ।

"अग्रग्रासन समये मक्षिका सन्निपातः।"

संसार के कौतुक-रूप मधु के पान की लालसा से मैं निकला था और

इच्छा थी विचर-विचर इस अनोखी वाटिका में जिसे संसार कहते हैं, जहाँ अच्छे से अच्छा मधु मिले उसे पिऊँ, पर यहाँ इस गाटे में मुझे ऐसा विषाक्त पुष्परस पीने को मिला कि कलेजा झौंस गया; आशा-लता बिलकुल कुम्हला गई; जो देखने में बड़े भव्याकृति और चेष्टा से जिनके शिष्टता, सभ्यता, बड़प्पन बरस रहा है उनके गुप्त आचरण इतने महा मलिन और दुर्गन्धि-पूरित हैं तब ओछे, छिछोरे, छुद्र जनों का क्या ठिकाना ?

(आकाशवाणी)

मधुप ! इतने से ही उकता गया। अभी तो तुझे बड़ी-बड़ी लीलायें देखना है। मत घबड़ा। उनसे भी तेरी भेंट होगी, जो तुझे वास्तव में अपने सुचरितामोद से तेरा चित्त प्रमुदित कर देंगे; चुपचाप मौन साध जैसा रस तुझे पीने को मिलै पी ले।

पाठक ! आप जानते हो, मधुप प्रत्येक फूलों से लै थोड़ा-थोड़ा जमा करता रहता है। आज का यह क्षुद्र प्रस्ताव मधुप के चिरकाल का संग्रह है। इससे जो आपको कुछ भी चित्त-विनोद हुआ, तो इसी का शेष फिर कभी आपके कर्ण-गोचर करावेंगे। तब तक हमारे मधुप को और संचित कर रखने का पुनः अवकाश भी मिल जायगा।

मई, १९०१

परचित्तानुरंजन

ऐसे पुरुष जो परचित्तानुरंजन में कुशल हैं अर्थात् जिनकी सदा चेष्टा रहती है कि हमसे किसी को दुःख न मिलै और कैसे हम दूसरे के मन को अपनी मुट्ठी में कर लें। ऐसे पुरुष मनुष्य के चोले में भी साक्षात् देवता हैं। इस लोक और परलोक दोनों को उन्होंने जीत लिया। परचित्तानुरंजन या परछन्दानुवर्तन से हमारा प्रयोजन चापलूसी करने का नहीं है कि तुम अपनी चालाकी से

मूर्ख छन्दानुवृत्तन

के क्रम पर भीतर तो न जानिये कितनी मैल और कूड़ा जमा है; अपना मतलब गाँठने को उसके मन की कह रहे हो, वरन् अपना मतलब चाहे बिगड़ता हो, पर उनका चित्त आजुर्दा न हो। इसलिये जो वह कहे उसे कबूल कर लेना ही परचित्तानुरंजन है।

दिल्ली के बादशाह नसीरुद्दीन महमूद ने एक किताब अपने हाथ से नकल की थी। एक दिन अपने किसी अमीर को दिखला रहा था। उस अमीर ने कई जगह गलती बतलाई। बादशाह ने उन गलतियों को दुरुस्त कर दिया। जब वह अमीर चला गया तब फिर वैसा ही बना दिया जैसा पहले था। लोगों ने पूछा, ऐसा आपने क्यों किया? बादशाह ने कहा, मुझको मालूम था कि मैंने गलती नहीं की, लेकिन खैरख्वाह और नेक सलाह देनेवाले का दिल दुखाने से क्या फायदा? इससे उसके सामने वैसा ही बनाय यह मेहनत अपने ऊपर लेनी मैंने उचित समझी। व्यर्थ का शुष्कवाद और दाँत-किट्टन करने की बहुधा लोगों की आदत होती है। अन्त को इस दाँत-किट्टन से लाभ कुछ नहीं होता। चित्त में दोनों के कसाकशी और मैल अलबत्ता पैदा हो जाती है। बहुधा ऐसा भी होता है कि हमारी

हार होगी, इस भय से प्रतिवादी का जो तत्त्व और मर्म है उसे न स्वीकार कर अपने ही कहने को पुष्ट करता जाता है और प्रतिपक्षी की बात काटता जाता है। हम कहते हैं, इससे लाभ क्या? प्रतिवादी जो कहता है, उसे क्यों न मान लें, उसका जी दुखाने से उपकार क्या—

फलं न किंचित् अशुभा समाप्तिः।

सिद्धान्त है—

मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना तुण्डे-तुण्डे सरस्वती।

बहुत लोग इस सिद्धान्त को न मान, जो हम समझे बैठे हैं, उसे क्यों न दूसरे को समझावें, इसलिये न जानिये कितना तर्क-कुतर्क शुष्कवाद करते हुये आँय-बाँय बका करते हैं। फल अन्त में इसका यही होता है कि जी कितनों का दुखी होता है। मानता उसके कहने को वही है जिसे उसके कथन में श्रद्धा है। हमारे चित्त में ऐसा आता है कि जो हमने तत्व समझ रक्खा है उसे उसी से कहैं जिसे हमारी बात पर श्रद्धा हो। मोती की लरियों को कुत्ते के गले में पहिना देने से फायदा क्या? अस्तु, हमारे प्राचीन आर्यों ने जो बहुत-सी विद्या और ज्ञान छिपाया है उसका यही प्रयोजन है। जिसे इन दिनों के लोग ब्राह्मण पर दोषारोपण करते हैं कि ब्राह्मणों ने विद्या को छिपाया, सबों को न पढ़ने दिया।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेभवाम्यहम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥

विद्या ब्राह्मण से यों कहती है—मैं तुम्हारा खजाना हूँ, मुझे जुगै के रक्खो, निन्दक तथा गुण में दोष निकालनेवाले मत्सरी को मत बतलाओ, ऐसा करोगे तो मैं तुम-सी अत्यन्त वीर्यवती हूँगी। छान्दोग्य ब्राह्मण में भी ऐसा ही कहा है—

विद्याह वै ब्राह्मणमाजगाम तवाहमस्मि त्वं मां पालय।
अनर्हते मानिने नैवमादा गोपाय मांश्रेयसी तथाहमस्मि।
विद्या सार्द्धं म्रियते न विद्यामषरे वपेत॥

कितने लोग ऐसे हैं जिनके मधुर कोमल शब्दों में मानों फूल झरते हों। श्रुति-मनोहर उनके वदनाब्जनिःसृत पदावलियों के एक-एक शब्द पर जी लुभाता है। किन्तु कितने कटुवादी खल ऐसा अरुन्तुद बोलनेवाले हैं कि वे जब तक दिन में दो-चार बार मर्मताड़न कर किसी का चित्त न दुखा लें तब तक उन्हें खाना नहीं हजम होता। ऐसे दुष्टों का जन्म ही इसलिये संसार में है कि वे अपने वाग्-वज्र से दूसरों का हृदय विदीर्ण किया करें।

अतीव रोषा कटुका च वाणी नरस्य चिह्ना नरकागतानाम्।

वाक्संयम इसीलिये कहा गया है कि कहीं ऐसा न हो कि कोई शब्द हमारे मुख से ऐसा निकल जाय कि उससे दूसरे के चित्त को खेद पहुँचे। शील के सागर कितने पुरुष-रत्न चारुदत्त से चारुचरित्र ऐसे हैं जो अपना बहुत-सा नुकसान सह लेते हैं, पर लेन-देन में कड़ाई के साथ नहीं पेश आया चाहते और न वे दूसरे का जी दुखाते हैं। निश्चय ऐसे लोग महापुरुष हैं, स्वर्गभूमि से आये हैं और स्वर्ग में जायेंगे। जो परचित्तानुरंजन में लौलीन हैं, उनके समक्ष मनुष्य कोटि में ऐसे कहीं कोई होंगे; पर यह छन्दानुवर्तन दैवी गुण वहीं अवकाश पाता है, जहाँ दर्प-दाह-ज्वर की ऊष्मा का अभाव है। अहंकारी को कभी यह बुद्धि होती ही नहीं कि हम किसी के चित्त को न दुखावें ; वरन् परछिद्रान्वेषण ही में उसे सुख मिलता है। दूसरे की ऐबजोई को वह अपने लिये दिल-बहलाव मानता है। अभिमान से देवदूत और फरिश्ते भी स्वर्ग से च्युत किये गये। तब जिसमें यह शैतानी खसलत है, उसकी तुलना परचित्तानुरंजन के साथ क्योंकर हो सकती है। यह दर्प-दाह-ज्वर धनवानों को बहुतायत के साथ सवार रहता है। हमारा यह लेख उन्हीं के लिये विशेष रसांजन है। निष्किंचन जो सामान्य मनुष्य के सामने भी गिड़गिड़ाया करता है, उसको इस रसांजन की क्या अपेक्षा है।

बहुत से ऐसे भी लोग हैं, जिनकी चाल और ढंग कुछ ऐसा होता है कि उसे देख चित्त में विषाद और कुढ़न पैदा होती है।

यद्यपि का नो हानिः परकिया रासभो चरित द्राक्षाम।
असमंजसमिति मत्वा तथापि नो खिद्यते चेतः॥

किसी दूसरे के दाख के खेत को गदहा चरे लेता है, हमारी यद्यपि इसमें कोई हानि नहीं है, किन्तु यह असमंजस-सा मालूम होता है कि दाख के खेत को गदहा चरे डालता है, यह समझ चित्त को खेद होता ही है। गर्वापहारी परमेश्वर की कुछ ऐसी महिमा है कि इस तरह के तुच्छ मनुष्यों को कोई ऐसा धक्का लग जाता है कि उनकी सब ऐंठन विदा हो जाती है और तब वे राह पर आ जाते हैं। और तब भी जो सीधे रास्ते पर न आयें, उन्हें या तो बेहया कहना चाहिये या समझना चाहिये कि उनका कुछ और अमंगल होनहार है। सोने की नाई चरित्र की परख भी कसे जाने पर होती है। कसने से जो खरा और शुद्ध चरित्र का निकला वह लोक में प्रतिष्ठा और कदर के लायक होता है और जो दगीला और खोटा निकल गया वह फिर किसी काम का नहीं रहता, समाज में सब लोग उससे घिन करने लगते हैं जो घिन के लायक हैं उनके जीवन से फल क्या—

कुसुमस्तवकस्येव द्वयी वृत्तिर्मनस्विनः।
मूर्ध्निहि सर्व लोकानां विशीर्येतवनेऽथवा॥

चरित्रवान् मनस्वी फूलों के गुच्छा समान हैं। फूल या तो सबों के सिर पर चढ़ेगा, नहीं तो जहाँ फूला है, वहीं कुम्हला के पेड़ के नीचे गिर पड़ेगा। कविवर भवभूति ने भी ऐसा ही कहा है—

नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा।
मूर्ध्नि स्थितिर्नचरणैरवताडनानि॥

परचित्तानुरंजन के प्रकरण में इतना सब हम अप्रासंगिक गा गये। पढ़नेवाले कहेंगे व्यर्थ की अलापचारी से यह पत्र की जगह छेक रहा है। सो नहीं परचित्तानुरंजन चरित्र-पालन का प्रधान अंग है जो दूसरे के चित्त को अपनी मूठी में कर लेना सीखे हैं और इस हुनर में प्रवीण हैं, वे चरित्रवानों के सिरमौर होते हैं। "स्माइल्स आन कैरेक्टर" में यही बात कई

जगह कई तरह पर दर्साई गई है। पाठक, आप भी यदि चरित्रवान् हुआ चाहो, तो परचित्तानुरंजन में ध्यान लगाओ, सो भी कदाचित् नापसंद हो तो एक बार हमारे इस लेख को तो पढ़ लो। देववाणी अँगरेजी के लेख पढ़ने की आदत पड़ रही है। पिशाचभाषा हिन्दी का लेख पढ़ने में अपनी हतक समझते हो तो लाचारी है। हमारे भाग्य में करतार ने इसी पिशाचिनी की सेवा करना लिख दिया है तब क्या किया जाय?

जून, १९०६

खटका

पहले तो पढ़नेवाले ही इस खटके का नाम सुन अपने जी में खटका करेंगे कि क्या खटके की बात सुना रहा है। पाठक! यह बात ऐसी ही है। ब्रह्मा की सृष्टि में कोई मनुष्य एक पल के लिये भी इस खटके-झटके से खाली नहीं रहता। अचक माया भरी हुई है, आगे को उस माया का भोग-विलास करनेवाला कोई नहीं है। बहुत-सा टोटका टन-मन मंत्र-यंत्र के बाद घरवाली के कुछ आगम प्रगट हुआ भी तो गर्भस्राव का खटका लगा रहता है। धरती पर आये, ईश्वर ने बड़ी कृपा की, पत्थर पर दूब जमी, तो नित उठ एक न एक बीमारी का खटका लगा रहता है और बड़े हुये तो अपने साथियों में खेलते हुये हारने-जीतने का खटका रहता है। स्कूल में मास्टर साहब साक्षात् यमराज के अवतार, घर में बाप-माँ की घुड़की और झिड़की का खटका। बरसवें दिन परीक्षा और दरजा चढ़ाये जाने का खटका। कुछ याद नहीं है, बिना इम्तहान दिये बनता नहीं। फेल हुए तो अपने साथियों में आँख नीची होती है, साल भर तक किताब के साथ लिपटे रहे, हिस्टरी याद है, तो मैथमेटिक्स का खटका है। इशारेबाजी और अपने पासवाले से पूछ-पूछ लिखते तो वहाँ इम्तहान के कमरे में गार्ड लोगों की सख्त-मिजाजी का खटका है। खैर, किसी तरह इम्तहान दे-देवाय फारिग हुए तो अब दो एक नम्बर कम रहने का खटका रहा। मुमतहिन साहब का मिजाज दुरुस्त रहने को रोज देवता-पित्तर मनाया करते हे और बड़े हुए, जवानी का जोश सवार हुआ, शरीर की एक-एक रग फड़क रही है, ऐसे समय सबसे जियादह खटका आँख का रहता है, जिसका किसी ओर लग जाना बहुत ही सहज है। अच्छा किसी ने कहा है—

आया इश्क लपेट में लागी चश्म चपेट।
वोही आया खलक में और भरैया पेट॥

नजर ऐसी बुरी बला है कि सौ में निन्नानवे इसके रोगी होंगे। खैर, आँख के रोग से बचे तो अब जीविका की चिन्ता सवार हुई। सार्टिफिकेट लै सब ओर घूम आये; पंखा कुली तक की जगह न मिली। हजार-हजार मुश्किलों से कहीं कोई जगह मिली भी तो डाक्टर साहब से हेल्थ सार्टिफिकेट का खटका। क्या जाने डाक्टर साहब की घनचक्कर अकिल में उस समय क्या सवार हो जाय। परदेश में नौकरी हुई तो घरवालों की सही-सलामती का खटका। घर पर हुये तो काम की जियादती से एरियर न पड़ा रह जाने का खटका। प्रतिष्ठा और पद्धति बनाये रहने का खटका। ईश्वर सानुकूल हुए और सब निभता गया तो बदली का खटका रहा। हाकिम बाला से दुष्टों की शिकायत का खटका। तखफीफ में आ जाने का खटका। गुड सरविस का खटका। स्वाती की बूँद-सा पेनशन का दिन ताक रहे हैं; ६ वर्ष बाकी हैं, अब ५ ही रहे अब केवल छही महीने रहे, अन्ततोगत्वा आधे या तिहाई पर पेनशन हुई। ऐसे बूढ़े बैल को कौन बाँध कर भूसा दे? यह सरकार ही का घर है कि ऐसों का भी बेड़ा पार होता जाता है। निदान पेनशन हुई, तो घर में बैठे-बैठे मन नहीं लगता, आस-पास की रियासतों में टटोलने लगे। तेली के बैल को घूमने से काम। इधर लड़के पढ़-लिखकर तैयार हुये, उन्हें किसी काम में लगा देने का खटका सवार हुआ। उनको नौकरी मिलने के लिये बँगले-बँगले फ़िदवी खाकसार करते फिरे। प्रारब्ध और वसीला अच्छा हुआ, तो उन्हें भी कहीं नौकरी मिल गई। अस्तु, नौकरी पेशेवालों का खटका तो सटक गया। अब उनको लिखते हैं जो रोजगार की तरफ झुके हुये हैं।

सत्तर आदमी की मूँड़ी कूँच और अनेक तरह की बेईमानी कर असंख्य धन इकट्ठा किया तो सही; पर दिवाला पिटने का खटाका न गया, पहिया चल निकली है, काम चलता जाता है, रातों-दिन दिसावरों की चिट्ठियाँ लिखते-लिखते कमर झुक गई, आँख झन्त हो गई, पर तो भी पूँजी मूलधन में पायदारी न आई। हिस्सेदार हरदम मूँड़ी कूँचने को मुस्तैद रहते हैं, भाई को सीधा-सादा गबरूदास पाय बातों में पिरोहे रहे, तो भी गला न

छूटा। भतीजे ऐसे कट्टर और निर्दयी जनमें कि पावें तो चाचा साहब का हाड़-मांस तक चबा जायँ। चचा को भी इन भतीजों का हरदम खटका बना ही रहता है। पावें तो उन्हें निर्मूल कर डालें।

कितनों को के० सी० एस० आई० रायबहादुर बनने का खटका रहता है; कौंसिल की मेम्बरी के लिये दिलोजान से कोशिश कर रहे हैं। कलक्टर, कमिश्नर आदि हाकिमों की खुशामद करते-करते उनके बँगलों की चौखट पर माथा और नाक रगड़ते-रगड़ते नाक घिस गई, पर जब काम पड़ा तो उनका निरा दंभ और स्वार्थपरता देख लोगों ने उन्हें न चुना। हमीं चुने जायँ इसलिये बहुत हटपटाने पर अन्त को सब ओर से महरूम और निराश हो अपना-सा मुँह लिये बैठ रहे। जुवा खेलने गये, बड़ा भारी दाँव लगा दिया यहाँ तक कि एक ही दाँव में या तो दस हजार आते हैं या कौड़ी के तीन-तीन होते हैं दाँव का खटका लग रहा है, पौ आवे या छक्का। इसी तरह रोज-गारियों को चुंगी और टैक्स का खटका। संपादकों को राजविरुद्ध लेख का खटका। गवर्नमेंट को शासनप्रणाली में उमदा से उमदा राय देते रहे, सरकार का राज्य अटल होने के लिये अपने लेख द्वारा प्रजा में राजभक्ति स्थापित करने की सदा चेष्टा करते रहे, इनका कोई धन्यवाद या इनाम नहीं। कर्मचारियों के निन्दित काम और अत्याचार से खिन्न हो जोश में आय कभी कोई बात किसी संपादक ने लिख डाली। बस, उसके जी की आ लगी, मुकदमा कायम हो गया, ईश्वर ही उसका सहायक हो तो छुटकारा हो, इत्यादि।

संसार के यावत् मनुष्य एक क्षण भी तरद्दुद से खाली नहीं। दिन-रात के खटके के झटके में पड़े भटके हुए हैं, जिससे शान्ति को चित्त से अवकाश ही नहीं मिलता। बटलोही में एक चावल टटोलने की भाँति थोड़े से उदाहरण खटकों के यहाँ दिखलाये गये। अजी, जीते जी तो खटके से कोई खाली रहता ही नहीं, मरने पर भी जन्म लेने का खटका लगा रहता है। धर्माधर्म साथ ले यमराज के पाहुने हुए, अपने किये हुये पाप या पुण्य के अनुसार स्वर्ग-सुख या नारकी यातना भोग फिर जन्मे, फिर मरे, इस तरह पर जन्म-मरण

ी इस अनादि धारा में पड़ भवसागर की चंचल और तरल तरंगों में गोता खाते हुए ऐसे ही कोई भाग्यवान सुकृती होंगे जो परमात्मा के निर्वाण पद के अधिकारी हो सदा के लिये खटका से मुक्त हो जाते हैं।

मई, १८९६